

DAMAGE BOOK

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास

शमशेरसिंह नरूला

4309

53H

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186558

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-23-4-4-69-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 491-4309** Accession No. **N23 H P. 648/75**

Author **नरुला शमशेरसिंह**

Title **हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का**

This book should be returned on or before the date
last marked below. **वैज्ञानिक इतिहास. 1957.**

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं

का

अभिलेखना व विवर्धन

वैज्ञानिक इतिहास

शमशेरसिंह नरूला

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टैंड,) इंदौराबाद ५५



राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्रकाशन व अनुवाद के
सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित

प्रथम संस्करण, १९५७

मूल्य चार रुपये

प्रकाशक,
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
बम्बई-दिल्ली-इलाहाबाद-पटना-मद्रास

मुद्रक,
श्री गोपीनाथ सेठ,
नबीन प्रेस, दिल्ली

प्राक्कथन

किसी समाज-विशेष की भाषा उसके समग्र इतिहास के प्रवाह का फल है और असंख्य पीढ़ियों के उसके कार्यरत और उद्यमशील जीवन की सामूहिक सृष्टि है। भाषा की जड़ें जन-जन की चेतना में गहराई तक पहुँची रहती हैं और जनता ही अपनी महान् निर्माण-प्रतिभा द्वारा समस्त भौतिक और आध्यात्मिक कृतियों के साथ-साथ भाषा का भी सृजन करती रहती है। इसलिए हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास-क्रम तभी अच्छी तरह समझा जा सकता है जब इसका अध्ययन उत्तरी भारत में जन-साधारण की बोलचाल की भाषाओं और वहाँ के इतिहास और संस्कृति से अविभाज्य सम्बन्ध द्वारा किया जाय। हिन्दी के इतिहासज्ञों ने अपने अध्ययन को केवल भाषा तक सीमित रखकर आधुनिक हिन्दी के स्वरूप, उसकी वर्तमान स्थिति और उसके भारतीय संस्कृति और राष्ट्रियता के संवर्धन में अंशदान का अपूर्ण ज्ञान ही प्राप्त किया है। अभी तक हिन्दी के इतिहासज्ञ अर्द्धशताब्दी पूर्व के 'लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' में प्रतिष्ठापित श्री ग्रियर्सन के इस सिद्धान्त का अनुगमन करते रहे हैं कि उत्तर भारत की आधुनिक भाषाएँ शौरसेनी और अन्य अपभ्रंशों के विपाटन द्वारा अस्तित्व में आईं। परन्तु उसके बाद अपभ्रंश आदि के बारे में जो बहुत-सी जानकारी उपलब्ध हुई है उससे इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती और न यह भाषाविज्ञान के उन नियमों से ही मेल खाता है जो इस समय सर्वत्र प्रामाणिक माने जाते हैं।

भाषाविज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों के प्रकाश में यह पुस्तक उत्तरी भारत की जनता द्वारा वास्तव में बोली जाने वाली भाषाओं और प्राचीन काल से उसके द्वारा सञ्चित आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति के अन्वेषण द्वारा आधुनिक हिन्दी के उद्गम और विकास का अध्ययन करती है। भाषा-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करते हुए इसमें भारतीय भाषाविदों के इस मत का खण्डन किया गया है कि हिन्दी और उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाएँ बृहत्तर भाषाओं के विपाटन द्वारा अस्तित्व में आईं और यह धारणा प्रस्तुत की गई है कि यहाँ भी और देशों की भाँति, आधुनिक भाषाएँ छोटी-छोटी

बोलियों और उपभाषाओं के विलय से उद्भूत हुईं—आदिम कबीलों और उपजातियों की भाषाएँ जातियों या क्षुद्र राष्ट्रों की भाषाओं में और जातियों और क्षुद्र राष्ट्रों की भाषाएँ आधुनिक टकसाली राष्ट्र भाषाओं में केन्द्रीभूत होती रहीं। इस तरह यह धारणा भी प्रकाश में आती है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ आम बोलचाल की भाषाएँ नहीं थीं और न वे उत्तरकालीन बोलचाल की भाषाओं को ही जन्म दे सकती थीं। इस प्रकार गणों, कबीलों और आदिम जातियों की उन पूर्वकालीन बोलियों और उपभाषाओं की ओर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है जिनसे वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत और भिन्न-भिन्न प्राकृतों का सृजन हुआ, जो संस्कृत और प्राकृत सरीखी भाषाओं के गतिहीन हो जाने पर भी फलती-फूलती रहीं और भौतिक जीवन की उन्नति के साथ-साथ जिनका विकास और परस्पर संगम होता रहा। इस तरह यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इन बोलचाल की आधुनिक उत्तरी भारतीय भाषाओं के साथ-साथ वहाँ के लोगों की एक महान् सांस्कृतिक परम्परा के रूप में हिन्दी का कैसे उद्भव हुआ और इसका क्या महत्त्व है।

यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि आधुनिक भाषातत्त्व के प्रामाणिक सिद्धान्तों के प्रकाश में हिन्दी के इस ऐतिहासिक अध्ययन का मुख्य उद्देश्य किसी निर्णीत विचार-प्रणाली या किसी स्थिर मत को प्रस्तुत करना न होकर इस विषय में वैज्ञानिक पर्यालोचन को बढ़ावा देना है तथा भारतीय भाषाओं के उद्गम और विकास के अध्ययन के लिए एक नवीन पद्धति की आवश्यकता पर जोर देना है। हिन्दी के अध्ययन के लिए इसकी आवश्यकता आज केवल इसलिए ही नहीं, कि इस क्षेत्र में अभी तक जिज्ञासा-भाव और वितण्डावाद का अधिकार रहा है वरन् इसलिए भी, कि उत्तरी भारत की राष्ट्रीय और भाषा-सम्बन्धी समस्याओं का वैज्ञानिक अवबोध हमारी स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए आवश्यक है और यह हमारी संस्कृति के भविष्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

शमशेरसिंह नरूला

सूची

अध्याय	पृ०
१. विषय-प्रवेश - - -	६
२. भारत का भाषा-सम्बन्धी प्राग् इतिहास - -	१४
३. संस्कृत भाषा का उद्गम और उसकी प्रकृति - -	२१
४. प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि - - -	४३
५. हिन्दी के आदिकाल से पहले की भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति	६३
६. हिन्दी के आदिकाल की कृत्रिम भाषाएँ - -	७७
७. हिन्दी के मध्यकाल की प्रादेशिक भाषाएँ - -	८६
८. आधुनिक हिन्दी और उर्दू का उद्भव और विकास -	१०७
९. हिन्दी और कुछ विदेशी भाषाएँ—समता और भिन्नता -	१२२
१०. प्रादेशिक भाषाएँ और हिन्दी - - -	१३४
११. हिन्दी का भविष्य और भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की समस्या	१५२
१२. लिपि का प्रश्न - - -	१६३
अनुक्रमणिका - - -	१६८

आलोचना व निबन्ध

अध्याय १

विषय-प्रवेश

ब्रिटिश शासन से हमें विरासत में एक धारणा यह भी मिली है कि उत्तरीभारत के समस्त जनसमुदाय की एक ही बोलचाल की भाषा है। स्वतन्त्रता के पूर्व यह भाषा हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारी जाती थी। यद्यपि इस बात पर तीव्र मतभेद था कि उसका संस्कृत की ओर मुँह मोड़ा जाय या फ़ारसी और अरबी के शब्द-भण्डार से सहायता ली जाय, फिर भी सबकी सम्मति यह प्रतीत होती थी कि उस समय जिसे हिन्दुस्तानी-क्षेत्र कहा जाता था, यह वहाँ की समस्त जनता की मातृभाषा थी। डॉक्टर जेड० ए० एहमद द्वारा सम्पादित और इस शताब्दी के तीसरे दशक^१ में प्रकाशित, “नेशनल लैंग्वेज ऑफ़ इण्डिया” के मतसंग्रह से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। उसके लेखकों में देश के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन के लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उनमें से किसी ने भी इस बात पर शंका प्रकट नहीं की थी कि हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू ही उत्तर-भारतीय जनता की मातृभाषा थी। वास्तव में इसी के आधार पर ही उन्होंने इसका समर्थन अखिल भारत की भाषा के रूप में किया और अंगरेजी के स्थान पर इसे राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया।

जैसा कि हिन्दी भाषा और साहित्य के किसी भी इतिहास से विदित है उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उत्तरी भारत की संस्कृति की संरक्षक और उसका प्रमुख पात्र खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू से कहीं अधिक ब्रज अवधी, पंजाबी और अन्य प्रादेशिक भाषाएँ थीं। ब्रिटिश शासक हमारी स्वतन्त्रता का विनाश करने के बाद हमारा अतीत गौरव मिटाने और प्राचीन संस्कृति से हमें विमुख करने के लिए इन प्रादेशिक भाषाओं के अस्तित्व तक को अस्वीकार करने लगे। उन्होंने उर्दू को बिहार से लेकर पंजाब तक के सब प्रान्तों की सरकारी भाषा घोषित कर दिया और यह स्थापित करने की कोशिश करने

१. किताबिस्तान, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित।

लगे कि समस्त उत्तरी भारत के कोटि-कोटि जनों की मातृभाषा उर्दू, हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही है।

ब्रिटिश शासकों ने समस्त उत्तरीभारत के लिए बोलचाल की एकमात्र भाषा के बारे में इस विश्वास का संलग्नतापूर्वक संवर्धन किया। एक के बाद दूसरी सेन्सस रिपोर्टों में हिन्दी-क्षेत्र की बोलचाल की भाषाओं को पूर्वी-हिन्दी या पश्चिमी-हिन्दी कहकर लिखा गया। इनमें से एक रिपोर्ट में प्रशासनिक सेवा के एक मुख्य अफसर श्री ईडी का उद्धरण दिया गया था कि हिन्दी की तथाकथित बोलियों अथवा उत्तरभारतीय प्रादेशिक भाषाओं का, जो फ्रांस एवं इंग्लैंड जैसे विशाल क्षेत्रों में बोली जाती हैं, कोई भविष्य नहीं है और कालान्तर में इनका लोप हो जायगा। इस सम्बन्ध में मि० ईडी० कहते हैं—

“मेरे जैसे अवैज्ञानिक के लिए यह कहना यथेष्ट होगा कि ये देशी भाषाएँ विभिन्न भाषाएँ नहीं हैं, किन्तु एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ हैं। मैं देशी भाषाओं के चार क्षेत्रों में से तीन में नियुक्त रहा हूँ और मुझे गोरखपुर के एक ग्रामीण और भाँसी के बनवासी से वार्तालाप करने में ठीक वही भेद मालूम हुआ जो (इंग्लैंड में) डेवन के कृषक और अबरडोन के खेतिहर में। यदि आप एक के लिए सुबोध हैं तो घैर्य के साथ दूसरे के लिए भी सुबोध हो सकते हैं।”^१

यह कहना अनावश्यक है कि ‘घैर्य के साथ’ कोई भी दो मनुष्य परस्पर बोध्य हो सकते हैं और भाषावार प्रतिवेशी प्रदेशों के लोगों में ऐसे घैर्य की बहुत ही कम आवश्यकता है। हिन्दी या हिन्दुस्तानी के लिए अवशेष भारत की भाषा के रूप में भी ऐसा ही दावा, उसे समस्त भारत की एक बोलचाल की भाषा न मानते हुए भी, किया गया था। हिन्दुस्तानी का जिक्र करते हुए डॉ० सुनीति कुमार कहते हैं—

“इसका उसे धन्यवाद देना चाहिए, समस्त उत्तरीभारत के और दक्षिण के अधिकांश भू-भाग के भारतीय कम-से-कम प्रारम्भिक वार्तालाप में अवरोध अनुभव नहीं करते हैं। बर्मा के किनारे से अफ़ग़ान सीमान्त तक और काश्मीर तथा नेपाल से मैसूर तक यात्रा करने में बिना किसी प्रयत्न के उसका जो ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह पर्याप्त है और यह हिन्दी (हिन्दुस्तानी) दक्षिण के तीर्थ-केन्द्रों में भी समझी जाती है।”^२

हिन्दुस्तानी से वास्तविक अभिप्राय उस बोली से है जो दिल्ली के

१. १९२१ की सेन्सस रिपोर्ट—भाग १, संख्या १।

२. सु० कु० चटर्जी—भाषा और भाषा की समस्या।

आसपास बोली जाती है और इसे प्रतिवेशी क्षेत्रों की पड़ी बोली के विपरीत खड़ी बोली कहा जाता है। किन्तु, अब इसे अतिसामान्य और सर्वसमावेशित अर्थ दिया गया है।^१ उसके विषय में केवल यही धारणा नहीं है कि वह आधुनिक हिन्दी और उर्दू को आच्छादित किए है किन्तु यह भी दावा किया गया है कि उसका प्रारम्भ हजार वर्ष पूर्व समरूपतः बोलचाल की प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से हुआ। समस्त उत्तरीभारत के लिए बोलचाल की भाषा के रूप में एक दीर्घकालीन और सन्तत इतिहास का दावा उसकी ओर से किया गया। उसके विषय में यह कहा गया कि वह पच्चीस-छब्बीस करोड़ लोगों की स्वाभाविक भाषा है और परिणामतः समस्त भारत की राष्ट्रभाषा है।

जब राष्ट्रीय और प्रजातान्त्रिक आन्दोलनों का भारत में विकास हुआ तो हिन्दी की 'बोलियाँ' अथवा प्रादेशिक भाषाएँ, जैसी वे बहुधा पुकारी जाती हैं, जनता की वास्तविक बोलचाल की भाषा के रूप में आगे आईं और उनके पक्ष में आवाज उठने लगी। उस समय के हिन्दी साहित्य-संसार के कुछ सर्वोच्च विचारशील व्यक्ति उन प्रादेशिक भाषाओं के अनुमोदन में चलाये गए 'जनपद आन्दोलन' में सम्मिलित हुए। यह आन्दोलन हिन्दी की बजाय प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति के लिए प्रयत्नवान् हुआ। ग्रियर्सन की 'लिगुस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' जिसने इस शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरीभारत में कई स्वतन्त्र, यद्यपि परस्पर सम्बन्धित, बोलचाल की भाषाओं के अस्तित्व की ओर संकेत किया था, इस आन्दोलन का प्रेरणा-ग्रन्थ बना।

ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित भाषाओं की संख्या से सन्तुष्ट न होकर, इस विचारधारा के मानने वाले दूसरी सीमा पर पहुँच गए। दो सहस्राब्दियों से पहले विद्यमान यूथों और कबीलों के समुदायों—जनपदों—की गणना आधुनिक काल के भाषा-भूगोल जानने के लिए की गई। यद्यपि आधुनिक उत्तर-

१. सु० कु० चटर्जी 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' में लिखते हैं :

“हिन्दी या हिन्दुस्तानी घरेलू-भाषा की दृष्टि से अवश्य केवल दक्षिण पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, उत्तरपूर्वी मध्य प्रदेश, उत्तरी ग्वालियर तथा पूर्वी राजपूताना आदि कतिपय प्रदेशों में ही बोली जाती है; और यहाँ भी अधिकांश भागों में प्रादेशिक बोलियाँ और केवल शहरों में हिन्दुस्तानी बोली जाती है। फिर भी अपने नागरी हिन्दी एवं उर्दू—दो शैलियों में हिन्दुस्तानी, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, नेपाल, सिन्ध, गुजरात एवं महाराष्ट्र को छोड़कर बाकी समस्त भारत की सर्वमान्य भाषा है।”

भारतीय भाषाओं के उद्गम के ढूँढ़ने का प्रयास ठीक ही महाभारत में वर्णित उपजातियों और गोत्रों में, पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा कालिदास की कृतियों में किया गया किन्तु फिर भी यह बात बिल्कुल भुला दी गई कि उस काल और आधुनिक काल के बीच में दो हजार वर्षों के इतिहास तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का अन्तर है। भाषाओं की विशेषतायें और बोलियों की कुछ विभिन्नताएँ जो इस देश में सामन्तशाही आधार के अक्षुण्ण बने रहने के कारण अवशिष्ट रहीं उनको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया और इन क्षेत्रों के पुनः प्राचीन नाम ढूँढ़े गए। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने बीस से अधिक ऐसे प्रदेशों या जनपदों की सूची उनके मुख्य केन्द्रों के साथ तैयार की। उनके विचार से इन छोटी इकाइयों को अलग गणराज्यों के रूप में होना चाहिए—जैसे कुरु जनपद की राजधानी मेरठ और कोरवी उसकी भाषा हो, रुहेलखण्ड की राजधानी बरेली और पंचाली उसकी भाषा हो, इत्यादि।^१ यह आन्दोलन यद्यपि प्रारम्भिक रूप में बहुत प्रगतिशील था, किन्तु सामन्ती शक्तियों ने इससे अपनी स्वार्थपूर्ति देखी और वे इसके संरक्षक बन गए।

ऊपर निर्देशित दो चरमसीमाओं के बीच, हिन्दी भाषा का उद्गम और स्वभाव तथा वर्तमान बोलचाल की भाषाओं से उसके सम्बन्ध की समस्याएँ उलझकर रह गईं और उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरीभारत की राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न और भी जटिल हो गए।

जैसा हम आगे देखेंगे, यह अप्रतिपादनीय है कि वह बीसियों बोलियाँ जो उत्तरीभारत के समूचे क्षेत्र में अन्तर्ग्रथित और अतिछादित रही हैं, अपने समस्त इतिहास में स्थिर और अपरिवर्तित बनी रहीं और वह एकीकरण की उन सब आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों से अप्रभावित रहीं जो भारत में भौतिक विकास के साथ-साथ प्रबलतर होती गईं। प्रश्न यह है कि क्या दो सहस्राब्दियों से अधिक जो एकीकारक एवं संयोजनशील आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ निरन्तर कार्य करती रही हैं, उन्होंने उस समस्त प्रदेश के लिए, जो अब हिन्दी-क्षेत्र कहलाता है, एक बोलचाल की भाषा को जन्म दिया है, अथवा कोई आघे दर्जन उन भाषाओं को जिन्हें आजकल प्रादेशिक भाषाओं के नाम से पुकारा जाता है और अंगरेजी शासनकाल से पहले जिनका उत्तरीभारत में आधिपत्य था। अवधी, ब्रज, आदि इन प्रादेशिक भाषाओं के अस्तित्व से किसी ने कभी

१. देखिए—मधुकर—जनपद आन्दोलन अंक, अप्रैल-अगस्त १९४४ तथा शिवदानसिंह चौहान लिखित 'प्रगतिवाद', प्रकाशक प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद।

इन्कार नहीं किया है, यद्यपि आधुनिक हिन्दी से उनके सम्बन्ध और उनकी प्रकृति के विषय में मतभेद रहा है।

इन आधुनिक भाषाओं की प्रकृति और सम्बन्धों को जानने के लिए आवश्यक है कि भारत में भाषाओं के विकासक्रम तथा उन विभिन्न भाषाओं के उत्थान और पतन का, जिनके अभिलेख उपलब्ध हैं, अध्ययन किया जाय। इसके अतिरिक्त यह इसलिए भी आवश्यक है कि यह दावा किया जाता है कि हिन्दी और आधुनिक भारत की अन्य आर्य भाषाएँ उपजातियों और यूथों की पूर्वकाल की बहुत-सी भाषाओं के संश्लेषण से नहीं किन्तु प्राचीन अथवा मध्य-कालीन भारत की एक या दो भाषाओं के विपाटन से बनी हैं। ये संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाएँ विशाल क्षेत्रों पर फैली हुई कही जाती हैं और आधुनिक हिन्दी-क्षेत्र से कहीं बड़े भूभाग की बोलचाल की भाषाएँ मानी जाती हैं। चूँकि आधुनिक हिन्दी की उत्तरीभारत के समस्त जनसमुदाय की बोलचाल की भाषा के रूप में मान्यता इन्हीं पूर्व भाषाओं के तथाकथित विशालतर और बोल-चाल का होने पर आधारित है, अतएव आधुनिक हिन्दी के सन्तुलित ज्ञान की प्राप्ति, संस्कृत, प्राकृतों और अपभ्रंशों के उद्गम और प्रकृति के परीक्षण के बिना नहीं हो सकती।

निश्चय ही आधुनिक हिन्दी भाषा के भूतकाल और वर्तमान का ऐसा परीक्षण उसके भविष्य के कार्यों की ओर अनिवार्य रूप से ले जाता है। हिन्दी निःसन्देह भारतीय जनता की मूल्यवान विरासत है; उसे आगे बढ़ाने के लिए और भारतीय संस्कृति को उसके द्वारा पुनः पुष्पित-पल्लवित करने के लिए हिन्दी भाषा का सर्वेक्षण करना आवश्यक हो जाता है।

अतएव हिन्दी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि उन सब समस्याओं का परीक्षण किया जाय जो उसके भूतकाल और वर्तमानकाल द्वारा प्रस्तुत होती हैं और जो उसके भविष्य से परमावश्यक सम्बन्ध रखती हैं।

अध्याय २

भारत का भाषा-सम्बन्धी प्राग् इतिहास

भारत के भाषा-सम्बन्धी प्राग् इतिहास का विवेचन आज इतना आसान नहीं जितना कि आज से पचास वर्ष पूर्व था । अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोपीय भाषाशास्त्रियों के संस्कृत भाषा के ग्रीक, लेटिन आदि, से साम्य से अवगत होने के फलस्वरूप भारोपाय भाषाकुल के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ । भारत, इरान, यूरोप आदि में इस कुल के जितने भी प्राचीनतम रूप उपलब्ध थे उनका अध्ययन करके उन सब भाषाओं के मूल-उत्स-स्वरूप को आद्य-भारोपीय भाषा का नाम दिया गया और यह कल्पना की गई कि यह भाषा अविभक्त रूप में एक जन-समुदाय द्वारा बोली जाती थी । इस भाषा और उसके बोलने वालों को भाषाशास्त्रियों ने 'विरोस्' का नाम दिया । यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया कि इन्हीं 'विरोस्' जनों से विभक्त होकर भारतीय-इरानी जन दक्षिणी मध्य-एशिया और इरान के पठारों में आकर बसे और कुछ शताब्दियों के बीतने पर उनसे भारतीय-आर्य अलग होकर सप्तसिंधु या आधुनिक पंजाब में आकर रहने लगे और इन्हीं के द्वारा इस देश में आर्य-भाषा की उत्पत्ति हुई ।

ऐसी कोई कालक्रमानुसार प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर भारतीय-आर्य भाषा के भारतेतर प्राग् इतिहास का निरूपण हो सके । सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण जो प्रमाण मिला है वह यह है कि १५०० ई० पू० से आर्य पश्चिम एशिया में विद्यमान थे । यह इतिहासज्ञों की इस धारणा से भी मेल खाता है कि दूसरी सहस्राब्दि ई० पू० के पूर्वार्द्ध में प्राचीन जनों का एक बड़ी संख्या में स्थानान्तरण हुआ । इसके पश्चात् का प्रत्यक्ष साक्ष्य मीदी और पारसीक जनों की इरान में उपस्थिति है जिसका प्रमाण दसवीं शताब्दी ई० पू० के बाद के अस्सीरी पुरा-लेखों से मिलता है । आर्य जनों का आगमन इरान में इससे बहुत पहले सम्भव नहीं जान पड़ता । भारतीय आर्य जनों के भारत में प्रवेशकाल के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता किन्तु वैदिक भाषा और पुरातन पारसीक में जो सादृश्य है उससे सहज

ही यह स्थिर किया जा सकता है कि उन दोनों—पारसीक-इरानियों और वैदिक-आर्यों—को पृथक् हुए थोड़ा समय ही हुआ था। इस आधार पर यह माना जाता है कि आर्य जनों का भारतागमन १७०० ई० पू० से लेकर १३०० ई० पू० तक हुआ और ऋग्वेद का संकलन १२०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक हुआ किन्तु यह काल-विभाजन बहुत ही अनुमानित है और इससे शताब्दियों का हेरफेर हो सकता है। इस प्रकार एक अविभक्त भारोपीय भाषा की कल्पना २५०० ई० पू० के लगभग की गई है। यह भाषा क्रमशः भारत-इरानी तथा वैदिक रूप से होती हुई भारतीय-आर्य भाषाओं में परिणत हुई मानी जाती है।

यह बात असंदिग्ध है कि ताम्रयुग में और उससे पहले भी भारोपीय कुल के मानव और भाषाओं का अस्तित्व बना हुआ था। ये प्राचीन भारोपीय जन अनिवार्यतः यायावर थे। इनके एक मूल निवासस्थान का सिद्धान्त तो प्रस्तुत किया गया पर ऐसा कोई स्थान कभी भी सर्वमान्य न हो सका और आज भी पामिर और बाल्टिक सागर से लेकर ईरान के पठार और पञ्जाब की तलहटी तक अनेक स्थान इस सम्मान के दावेदार हैं।

गत सौ वर्षों में प्रागैतिहासिक आर्य और अनार्य भाषाओं के सम्बन्ध में मूल्यवान सामग्री उपलब्ध हुई है किन्तु उसको अभी तक भारोपीय भाषा के सिद्धान्त में ही समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। जब एशिया माइनर में बगोज़ क्योई के स्थान पर हित्ती और पूर्वी मेसोपोटेमियाँ में मितन्नी पुरालेखों में प्राग्-वैदिक आर्य भाषा के प्रमाण प्राप्त हुए, तो कई भाषा-वैज्ञानिक भारोपीय से भी पुरातन 'भारत-हित्ती' भाषा की कल्पना करने पर बाध्य हुए और इससे भारोपीय तथा हित्ती दोनों के प्रस्फुटन की धारणा प्रस्तुत की गई। जब चीनी तुर्किस्तान के समीप प्रागैतिहासिक टोचारियन भाषा के चिह्न प्राप्त हुए तो भारोपीय जनों के किसी और भी आद्य-भाग के वहाँ आ बसने का उल्लेख किया गया। फिर यह ज्ञात हुआ कि संस्कृत और ग्रीक में कई समानताएँ हैं जो अन्य भारोपीय कुल की भाषाओं में नहीं, इसी तरह शब्द-भण्डार की दृष्टि से संस्कृत तथा सलाव और बाल्टिक भाषाओं में अधिक सादृश्य के उदाहरण मिले और इस बात के भी प्रमाण मिले कि भारतीय-आर्य भाषाओं के व्याकरण सम्बन्धी कई नियम सेमिटिक भाषाकुल जैसे हैं। इन सब तथ्यों की किसी-न किसी प्रकार व्याख्या कर दी गई।

मोहेन्-जो-दड़ो की सम्यता के प्रकाश में आने पर भारतीय-आर्य भाषाओं के इतिहासज्ञों के सम्मुख एक और भ्रान्ति उपस्थित हुई क्योंकि उस समय

तक यह धारणा थी कि आर्य-जन एक असम्य देश में आये जहाँ वह और उनकी संस्कृति और भाषा अपनी श्रेष्ठता के कारण विजयी हुई। आर्यों के भारतागमन के पूर्व की इस प्रौढ़ सम्यता का ज्ञान प्राप्त होने पर वहाँ की मोहरों आदि में प्राप्त भाषा के सम्बन्ध में बहुत वादविवाद छिड़ा। यद्यपि उस सम्यता का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की समकालीन अन्य सम्यताओं से असंदिग्ध था तो भी उस भाषा को पढ़ने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अभी तक उसके बारे में मतभेद नहीं हुआ। फ़ादर हिरास ने मोहेन्-जो-दड़ों की भाषा को आदि द्राविड़ भाषा बताया है^१ और बेंडरिक हरोज़नी ने उसे आर्य कुल की भाषा सिद्ध किया है।^२ इसके अतिरिक्त जी० आर० हंटर ने मोहेन्-जो-दड़ों लिपि को ब्राह्मी का आदि-रूप मानकर पढ़ने का प्रयत्न किया है, सी० जे० गाड ने उसे संस्कृत भाषा के रूप में पढ़ने की चेष्टा की है और डब्ल्यू नोमन ब्राऊन ने उसे ऐलम और सुमेर की समकालीन भाषा का ही एक रूप बताया है। ब्राह्मी भाषा द्राविड़ कुल की है, इससे इस स्थापना को बल मिला कि मोहेन्-जो-दड़ों की सम्यता के निर्माता आदि द्राविड़ थे। उनके आदि निवासस्थान के बारे में भी मतभेद है कुछ भाषाशास्त्री उन्हें लिबया से आया मानते हैं^३ कुछ पूर्वी भूमध्य सागरस्थित क्रीट आदि द्वीपों^४ से और कुछ का विचार है कि वह भी मध्येशिया से आये थे जहाँ उनके पूर्व में मंगोल और पश्चिम में आर्यों का निवास था^५ और उसी समय के आदान-प्रदान के कारण मंगोली और आर्य भाषाओं में द्राविड़ भाषा के शब्द सम्मिलित हुए। अभी विवाद चल ही रहा था कि मोहेन्-जो-दड़ों सम्यता के निर्माता आर्यकुल से थे या आधुनिक द्राविड़ों के पूर्वज, यह स्थापना भी की जाने लगी कि भारतीय-आर्यों और द्राविड़ दोनों भाषाओं^६ का उद्गम एक ही आद्य भाषा है।

इसी प्रकार भारत के दूसरे प्राग्-आर्य भाषा कुल कोल तथा मोन-ख्मेर के सम्बन्ध में भी परस्पर विरोधी स्थापनाएँ प्रस्तुत की गईं। अधिकतर भाषा

१. हेरास : इण्डिया दी एम्पायर ऑव दी स्वास्तिक ।

२. बेंडरिक हरोज़री : एन्शेन्ट हिस्टरी ऑव बेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड क्रीट ।

३. तामिल कलचर, अप्रैल १९५४—जे० के० कॉर्निलियस : 'तामिल समस्या' ।

४. एच० आर० हाल : एंशेन्ट हिस्टरी ऑव दी नियर ईस्ट ।

५. तामिल कलचर अप्रैल १९५४—आर० डेविड : द्राविड़ों का आदि निवास-स्थान और प्रागैतिहासिक युग में उनके परिभ्रमण ।

६. तामिल कलचर, जनवरी १९५३ । नैलूर स्वामी गनप्रकाशर : भारोपीय और द्राविड़ों के सामान्य उत्पत्ति का भाषाशास्त्रीय प्रमाण ।

शास्त्री इन कोल भाषाओं को आदिम कुल की बतलाते हैं जो प्रशान्त सागर में हवाई द्वीप तक फैली हुई हैं। इस मत के अनुसार यह कोल तथा मोन्-ख्मेर उपजातियाँ यहाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया से आईं। इसके विपरीत श्री हेवेसी विलमोश भारतीय कोल भाषाओं को यूराल अल्ताई भाषा-कुल की मानते हैं। दक्षिण-देशीय भाषा-कुल सम्बन्धी मत के प्रमुख संस्थापक श्री पातर एफ शिमड ने भी यह स्वीकार किया है कि कोल भाषाओं में कुछ यूराली तत्त्व अवश्य हैं।

मोहेन्-जो-दड़ो और अन्य प्राग्-आर्य भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में जो वादविवाद हो रहा है उसका विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होता। द्राविड़ तथा कोल भाषाओं के जो तत्त्व भारतीय आर्य भाषाओं में उपलब्ध हैं उनके सम्बन्ध में इन भाषाओं का विवरण देते समय उल्लेख किया जायगा। यहाँ एक प्रश्न अत्यन्त संगत प्रतीत होता है, जिसका विस्तार-पूर्वक पर्यालोचन भारतीय भाषाओं के उद्गम और विकास की समस्या से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। वह यह है, क्या समस्त भारोपीय जन आदि काल में एक अविभक्त भाषा बोलते थे, जैसा कि प्रायः कहा जाता है, और क्या आदि भारतीय-आर्य जन जो भारत में शनैः शनैः पाँच सौ से सहस्र वर्षों तक आते रहे एक भाषा बोलते थे या उनके विभिन्न यूथ, गण-गोत्र और कबीले अपनी-अपनी विभिन्न भाषाएँ बोलते थे ?

मानव भाषाओं की विभिन्नता और उनकी बहुरूपता उतनी ही अनिवार्य है जितना कि मानव का सम्भाषी होना। यूथों, गणों तथा कबीलों में बंटे हुए आदि आर्य जन जो कई हजार वर्ग मील के कल्पित आद्य निवास स्थान में यायावर अवस्था में रहते थे सम्भवतः केवल एक भाषा बोलते हों यह तर्क-संगत नहीं मालूम होता, क्योंकि भाषा-विज्ञान यह सिद्ध करता है कि भाषाओं का इस प्रकार विशाल रूप ग्रहण करना उस काल में सम्भव नहीं था जबकि जीवन का भौतिक स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का था और जब नदी, नाले, जंगल, पहाड़ियाँ जैसी प्राकृतिक बाधाएँ तक भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं को उत्पन्न कर सकती थीं। ऐसा होना इसलिए भी असंगत जान पड़ता है कि उस समय अत्यन्त हीन भौतिक अवस्था के कारण भाषाएँ सुघड़ न थीं और प्राथमिक अवस्था में होने के कारण उनके बहुत से अंश नितान्त अस्थिर थे। आस्ट्रेलिया के आदि निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार छोटे-छोटे कबीलों की बोलियों में विभाजित पाई गईं। मध्य अमेरिका के आदि निवासी कहीं ऊँची भौतिक अवस्था में थे, तो भी उनकी भाषाएँ खण्ड-खण्ड पाई गई थीं। आदि भारोपीय जनों की एक अविभक्त भाषा की कल्पना का विरोध करते हुए श्री टी० बर्रो लिखते हैं :

“वास्तव में विस्तारपूर्वक तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदि भारोपीय भाषा जिसकी हम (सामान्य धातुओं की खोज करके) कल्पना कर सके हैं, विभिन्न बोलियों में पूरी तरह विभक्त थी—‘आद्य-भारोपीय’ की कल्पना बहुत सी सम्बन्धित बोलियों के समूह के रूप में की जानी चाहिए जो कि यूरोप में एक विशाल भूभाग में फैली हुई थीं। ये बोलियाँ आर्यों के वहाँ से स्थानान्तरण के पूर्वकाल में ही विभिन्न भाषाओं का रूप धारण कर चुकी थीं।”^१

अपने आदि निवास-स्थान में भारोपीय गण-गोत्रों या कबीलों की एक ही मातृभाषा होने का सिद्धान्त कितना निराधार है, इसकी कल्पना इससे हो सकती है कि सभ्यता के उस प्रारम्भकाल में भाषाएँ कम होने की बजाय नित्य बढ़ती रहती थीं। उत्पादन के साधन अति दरिद्र और अकिञ्चन होने के कारण किसी गण-गोत्र या यूथ के सदस्यों की संख्या की एक सीमा थी जिसके भीतर रहकर ही वे सब उत्पादन के सामूहिक कार्यों में सम्मिलित हो सकते थे। सदस्य-संख्या उससे बढ़ जाने पर उस गण-गोत्र के एक भाग को स्थानान्तरण करना पड़ता। वाहनीय उपकरण और कुछ ढोर-डंगर ले वे नई चरागाहों की तलाश में निकल पड़ते और दूर जाकर नया गण बना जब वह कहीं अधिवास करते तो उनकी भाषा भी मूल भाषा से विच्छिन्न होकर शीघ्र ही नया रूप धारण करने लग जाती। श्रीपाद अमृत डांगे ने वैदिक साहित्य के अध्ययन से अनुमान लगाया है कि आदि गण-गोत्रों की संख्या ५०० सदस्यों से अधिक होना सम्भव नहीं।^२ प्राचीनतर भारोपीय गण-गोत्र, जिनके एक मूल निवास-स्थान में रहने की कल्पना की जाती है, इससे भी छोटे-छोटे होंगे। इस सम्बन्ध में एफ० ऐंगल्स लिखते हैं; “कबीलों और उनकी उपभाषाओं का प्रसार वस्तुतः साथ-साथ होता है। अभी कुछ समय पहले तक विभाजन द्वारा नये-नये कबीलों और उपभाषाओं की उत्पत्ति अमरीका में हुई है—और शायद आज भी यह निर्माण एकदम रुक नहीं गया। जब दो दुर्बल कबीले आपस में मिलकर एक होते हैं तो अपवाद स्वरूप यह देखने में आता है कि निकट सम्बन्धी दो उपभाषाओं का प्रयोग एक ही कबीले में होता है। साधारण रूप से इस समय अमरीका में कबीलों की संख्या २००० से कम नहीं।”^३

भारोपीय जन जहाँ कहीं भी गये उनकी भाषा विभिन्न कबीलों की भाषा में बँटी हुई थी। बोगाज कथोर्ड के पुरा-लेखों में छः विभिन्न भाषाओं का १. टी० बरों : हिस्टरी ऑव दी संस्कृत लैंग्वेज।

२. श्रीपाद अमृत डांगे : ‘भारत आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास’

३. एफ० ऐंगल्स : ‘परिवार की उत्पत्ति’।

पता लगा है।^१ जॉर्ज थामसन ने यूनान में आकर बसे 'भारोपीय' कुल के कबीलों की अनेक भाषाओं का उल्लेख किया है। होमर की कृतियों में उन्होंने लगभग दर्जन ऐसी भाषाओं के तत्त्व खोज निकाले हैं।^२

हेरान की प्राचीन पारसीक आदि भाषाओं में इतनी विभिन्नता थी कि उनकी लिपियाँ केवल व्यञ्जनमय होने के कारण बहुत सी पढ़ी तक नहीं जा सकीं। उपलब्ध प्राचीन इरानी भाषाएँ २७ विभिन्न लिपियों में हैं और इन भाषाओं की संख्या तो इससे भी अधिक है।^३ प्राचीन काल में जो भाषा सम्बन्धी विविधता विद्यमान थी वह बाबल के मीनार की अंजील की कथा से भी प्रमाणित होती है। यह विविधता इतिहास-काल तक बनी रही यह इससे सिद्ध होता है कि जो तीन कबीले ज्यूट, हेंगिस्ट तथा होर्सा जो उत्तर-पश्चिम यूरोप के एक ही स्थान से एक ही वर्ष (४४६ ई०) में थेनट (ब्रिटेन) के द्वीप में पहुँचे, उनकी भाषाएँ इतनी भिन्न थीं कि वैनरेबल बीड ने (७३० ई०) में उन्हें तीन विभिन्न राष्ट्र बताया था।^४

भारतीय-आर्य भाषा के केवल एक वैदिक रूप की जो कल्पना की जाती है उसका खण्डन कई भाषा-शास्त्रियों ने किया है। उनका विचार है कि भारतीय-आर्य शब्द का संस्कृत के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाना ठीक नहीं है, क्योंकि भारतीय-आर्य की उन बोलियों के अतिरिक्त जिन पर संस्कृत आधारित थी और कई बोलियाँ भी थीं।^५ इसलिए भारतीय-आर्य शब्द का प्रयोग आदि की समग्र भारतीय-आर्य भाषाओं के लिए किया जाना चाहिए। संस्कृतेतर भारतीय-आर्य भाषाओं के प्रत्यक्ष अवशेष सुरक्षित नहीं रहे, तथा उनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव भी न होता यदि मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं में ऐसी बहुत सी सामग्री उपलब्ध न होती जिसकी वैदिक, पौराणिक या महाकाव्य-कालीन संस्कृत से व्याख्या नहीं हो सकती। इस प्रकार की सामग्री का सम्पूर्ण संग्रह कभी नहीं किया गया, किन्तु जो साक्ष्य उपलब्ध हैं वह यह प्रमाणित करते हैं कि आदि भारतीय-आर्य भाषा की संस्कृतेतर बोलियों का अस्तित्व भी कभी बना हुआ था।

यह स्थापना कि आदि भारतीय-आर्य भाषाएँ परस्पर सम्बन्धित होने

१. दे०, जे० ए० हैमर्टन, 'यूनीवर्सल हिस्टरी ऑव दी वर्ल्ड, भाग १।'
२. जॉर्ज टोमसन, 'हिस्टरी ऑव एन्शेन्ट ग्रीक सोसाइटी।'
३. जे० ए० आरबरी 'लीगेसी ऑव पर्शिया।'
४. देखिये, 'साइमन पोटर : अवर लेंग्वेज।'
५. टी० बर्रो : हिस्टरी ऑव दी संस्कृत लेंग्वेज।'

पर भी यूथों, कबीलों या गण-गोत्रों की भाषाओं में बँटी हुई थीं और समस्त आर्य-जन, जो भारत में लगभग एक हजार वर्ष तक प्रवेश करते रहे थे, एक ही भाषा नहीं बोलते थे, आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के अध्ययन के लिए बहुत महत्व रखता है, क्योंकि इससे यह स्थापना ही खण्डित हो जाती है कि यह आधुनिक भाषाएँ आदि भारतीय-आर्य भाषा के एकमात्र रूप वेदिक के विपाटन से क्रमशः अस्तित्व में आई हैं। इस प्रकार हमारा ध्यान आदि भारतीय-आर्य यूथों, गणों और कबीलों की ओर जाता है जिनकी भारतागमन समय अपनी-अपनी विभिन्न बोली या भाषा थी। इन छोटी-छोटी भाषाओं के सहमिलन का क्रम कभी-कभी रुक जाने या परावर्तित होने पर भी, प्रगति करता रहा और इस तरह आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का उद्भव हुआ।

आर्यों के भारतागमन के समय हम यहाँ जो भाषा-सम्बन्धी स्थिति देखते हैं उसका संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि अधिकतर आर्य जन यूथों, गण-गोत्रों और कबीलों में बँटे हुए थे। उनकी भिन्न-भिन्न किन्तु परस्पर सम्बन्धित भाषाएँ थीं। इसके अतिरिक्त यहाँ के आदि निवासियों के कई भाषाकुल थे। मोहेन्-जो-दड़ो और कोल जनों को छोड़कर और भी कई भाषा-सम्बन्धी विभिन्नताएँ और उलझनें विद्यमान थीं जिनका प्रमाण आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में बहुत से ऐसे तत्त्वों से मिलता है जिनका उद्गम उन भाषाओं में भी नहीं खोजा जा सका।

संस्कृत भाषा का उद्गम और उसकी प्रकृति

आधुनिक हिन्दी की पूर्वज परम्परा की खोज केवल सौरसेनी अपभ्रंश और प्रथम सहस्राब्दी ई० की पूर्ववर्ती प्राकृत से ही नहीं की जाती है किन्तु संस्कृत से भी, जो ईसाकाल से पूर्व समस्त उत्तरीभारत की बोलचाल की भाषा मानी जाती है। हिन्दी भाषा के कई इतिहास तो भारोपीय के अध्ययन से प्रारम्भ होते हैं, जो आदितम आर्यों की तथाकथित सामान्य बोली थी, और इसके साथ उनके उस आदि निवासस्थान से भी जहाँ से वे इस बोली को दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में भारत में अपने साथ लाये। यूरोप और एशिया के विभिन्न भाषा-समुदायों के अति प्राचीन आधारभूत शब्दों के साक्ष्य से, तथा प्राचीन पौराणिक गाथाओं की समानता से, एक सामान्य जन्मभूमि तथा सामान्य भाषा के सिद्धान्त का समर्थन किया जाता है।

मैक्समूलर ने सबसे अधिक आर्य शब्द का भाषा-विज्ञान और जातीय प्रसंग में प्रचलन किया था, किन्तु बाद में उन्होंने इस पद का एक सामान्य जाति^१ के रूप में व्यवहार किए जाने का निषेध किया था, तिस पर भी यह धारणा स्थिर रही। इसका कारण यह था कि एक सामान्य भारोपीय भाषा का विचार बिना एक सामान्य जाति की भावना के संघारित नहीं हो सकता। इसके विपरीत यह निर्देशित किया गया है कि आर्य शब्द के अर्थ जोसना और हल चलाना है।^२ इसमें कोई जातीय गुणार्थ^३ नहीं है, तथा इसका तात्पर्य

१. मैक्समूलर : “रक्त में कोई आर्यजाति नहीं है। वैज्ञानिक भाषा में ‘आर्य’ शब्द किसी जाति पर लागू नहीं होता। उसका तात्पर्य भाषा से है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यदि हम आर्य जाति की बात करें तो समझ लेना चाहिए कि उसका अर्थ आर्यभाषा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है”।

२. मैक्समूलर : “मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि शब्द-विज्ञान की दृष्टि से आर्य का अर्थ यह लगता है—जोतने और हल चलाने वाला। आर्यों ने अपने लिए यह नाम यायावर जातियों के विरोध में धारण किया था।”

३. नेनीमाधव चौधरी—“सिन्धु जनता की जातीय संरचना के सम्बन्ध में किये

यायावर और पशुचारण से कृषक जीवन इंगित करना है। यह भी दिखलाया गया है कि वैदिक साहित्य में भी कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता है कि आर्यों का भारत से बाहर कहीं निवासस्थान^१ था। ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि तामिल के आधारमूल शब्दों के अध्ययन से यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि द्रविड़ों और आर्यों का एक सामान्य उद्गम^२ था। उसी के साथ-साथ यह भी दावा किया जाता है कि किसी समाज-विशेष के लिए उसकी बोली इतनी आवश्यक तथा इतनी स्वाभाविक है कि यदि आधुनिक भाषाएँ विस्मृत हो जायें तो बहुत कुछ वैसी ही भाषाएँ फिर प्रकट हो जायेंगी।^३

पिछली कुछ शताब्दियों की भाषा-वैज्ञानिक खोजों ने उपरोक्त विरोधाभास को बहुत कुछ सुलझाया है। जे० बी० एस० हाल्डेन का मत है कि

गए हमारे अनुसन्धानों से यह प्रतीत होता है कि सिन्धु-धर्म को अनार्य या पूर्वआर्य समझना न्यायसंगत नहीं है।" (सिन्धु-धर्म और सिन्धु-जनता—कलकत्ता रिव्यू, मई से सितम्बर १९५२); "यदि उपरोक्त दृष्टिकोण थोड़ा भी मान लिया जायगा तो यह समझ में आ जायगा कि सिन्धुकाल और ऋग्वेदिक युग में वास्तविक अन्तर नहीं है। जाति या संस्कृति में निरन्तर सातत्य है।" (ऋग्वेदिक जनता—कलकत्ता रिव्यू, सितम्बर १९५३ से फरवरी १९५४)।

१. बी० आर० अम्बेदेकर : "ऋग्वेद में दो शब्द आते हैं। एक है अर्य दूसरा आर्य। अर्य का व्यवहार ८८ स्थलों पर हुआ है। इसके अर्थ हैं (१) शत्रु (२) सम्माननीय व्यक्ति (३) भारतवर्ष का नाम (४) वैश्य स्वामी या नागरिक। आर्य का व्यवहार ३१ स्थलों पर हुआ है, परन्तु जातीय भावना में इसका व्यवहार कहीं नहीं हुआ है। (शूद्र कौन हैं?)"

पी० टी० श्रीनिवासन ने उल्लेख किया है कि आर्य शब्द ३३ बार मन्त्रों में आया है जिनमें सब मिलकर १५३,९७२ शब्द हैं। उनका कथन है कि इस शब्द का ऐसा विरल व्यवहार होना इस बात का प्रमाण है कि आर्य आक्रमणकारी नहीं थे जिन्होंने देश जीतकर उसकी जनता का मूलोच्छेद कर दिया था, क्योंकि एक विजयी जाति निरन्तर इन कृत्यों पर अभिमान करती है (मन्त्र-युगीन प्राचीन भारत में जीवन)।

२. निलूर स्वामी एस० मननप्रकाशर : द्राविड़ों और इण्डो-यूरोपियन की सामान्य उत्पत्ति का भाषा-शास्त्रीय प्रमाण। तामिल कल्चर, त्रैमासिक, मद्रास—जनवरी १९५३।

३. आर० एस० विल्सन, "दि बर्थ आव लेंग्वेज।"

प्राचीनकाल के समाजों द्वारा बहुतेरी धार्मिक विधियों और संस्कारों का उद्गम भाषा से पूर्व हुआ था, तथा मनुष्यों की बोली का विकास पिछले अस्सी से तीस हजार वर्षों में हुआ है^१ और इससे बहुत पूर्व मनुष्य उपकरण बनाने सीख, समाजों में संगठित हो चुका था। भाषा के इंगित द्वारा उद्गम के सिद्धान्त ने विभिन्न कुलों की असम्बन्धित भाषाओं^२ में सादृश्य तत्त्वों पर ध्यान आकर्षित किया है। यह नितान्त असम्भव नहीं कि इस सिद्धान्त द्वारा जातीयता के अतिरिक्त आर्यकुल में सम्मिलित सम्बन्धी भाषाओं में सादृश्यता का कुछ निरूपण हो सके। यह सम्भव हो सकता है कि यायावर कबीलों की तरह रहने वाले प्राचीनकाल के आर्यजनों का कोई स्थायी प्राकृतवास न था, और एक उपमहाद्वीप और तूणवर्ष से दूसरे में विचरते हुए ये गण, यूथ और कबीले, भाषा-निर्माण के पूर्ववर्ती काल में अलग होते और बिछुड़ते रहे हों, और इसी समय सामान्य रीतियों और पौराणिक गाथाओं का प्रादुर्भाव हुआ हो।

इन प्रश्नों का विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं है। यह हमारे लिए वहीं तक संगत है जहाँ तक वे हमारी उस उपरिचित धारणा में सहायता देते हैं कि एक सहस्राब्दी तक भारत में आने वाले आर्य एक ही सामान्य भाषा नहीं बोलते थे, जैसा कि साधारणतया स्थापित किया जाता है।

प्राचीन संस्कृत के अन्वय में अपनी आजकल की भाषाओं का अध्ययन हमारे लिए लाभदायक होता यदि वह वैज्ञानिक ढंग से किया जाता, क्योंकि आधुनिक भाषाओं के प्राथमिक तत्त्व अति-प्राचीनकाल में भी विद्यमान थे। भाषा अपने विशिष्ट बुनियादी शब्दसमूहों और व्याकरण पर स्थापित होकर युग-युगान्तर उन्नति की ओर अग्रसर होती रहती है और समाज के उत्पादी संभार की समृद्धि के साथ-साथ परिपूर्ण होती रहती है। उसमें अगोचर रूप से क्रमशः नवीन तत्त्वों का समावेश और उसी के साथ प्राचीन तत्त्वों का निराकरण होता रहता है। भाषाओं में संघर्ष, उन्हें बोलने वाली विभिन्न जातियों में संघर्ष के विपरीत, कई शताब्दियों तक संकरण की दीर्घा क्रिया के रूप

१. भाषा का उद्गम : दि ओरिजिन आव लैंग्वेज—रेशनलिस्ट एनुअल—लन्दन १९५२।

२. प्रो० ए० जोहानेसन—दि ओरिजिन आव लैंग्वेज। और इसी लेखक का 'नेचर' लन्दन (जुलाई, १९५०) में छपा लेख : "भाषा का इंगित द्वारा उद्गम—छः असम्बन्धित भाषाओं का प्रमाण।"

में चलता रहता है। विजयी भाषा अपने व्याकरण के चौखटे और बुनियादी शब्दसमूह को अक्षुण्ण रखती है, किन्तु साथ-साथ पराजित भाषाओं के प्रबल तत्त्वों का ग्रहण कर थोड़ा-बहुत परिवर्तित भी हो जाती है।

भाषा का उद्भव और विकास ऐतिहासिक परिस्थितियों पर सीधा निर्भर रहता है। मृतभाषाओं की सहायता से, जीवित भाषाओं के समुचित अध्ययन द्वारा, हम अपने इतिहास का विधायन ही नहीं यह भी समझ सकते कि उत्तरीभारत में फैली हुई बीसियों जातियों और उपजातियों की बोलचाल की भाषाएँ सहमिलन द्वारा आजकल की दर्जन से कम भाषाएँ कैसे बनी हैं। किन्तु ऐसा करने की बजाय आधुनिक भारतीय भाषाओं का मूल आदि-संस्कृत की एक या दो शाखाओं से खोजा गया जो कालान्तर में तीन या चार प्राकृतों में विपाटित हुई। उन प्राकृतों में से एक सौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वह वर्तमान पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्व पंजाब, राजस्थान, मध्य-प्रदेश और गुजरात के क्षेत्र तक फैली हुई थी। फिर यह कल्पना की जाती है कि आधुनिक हिन्दी का विकास इन प्रदेशों में फैली अन्य आधुनिक भाषाओं की तरह, इस प्राकृत के परवर्ती रूप सौरसेनी अपभ्रंश के विपाटन से हुआ। भारत की भाषाओं के उद्भव की यह प्रणाली सर्वमान्य भाषा-शास्त्रीय सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती और इसके लिए कोई कारण भी नहीं दिया जाता।

भाषा-विज्ञान का यह माना हुआ मत है कि मानव-समाज के आदि काल में, जबकि समाज के भौतिक साधन बहुत अर्किचन थे, ऐसी भाषाएँ विद्यमान नहीं थीं जो आजकल की भाँति उन विस्तृत भूखण्डों में आम बोलचाल में आती हों, जिनमें उस समय बीसियों गण और कबीले अपना-अपना परिसीमित जीवन व्यतीत करते थे। आधुनिक विशाल राष्ट्र-भाषाओं का विकास विशालतर भाषा के विपाटित होने से नहीं हुआ, बल्कि इसके विपरीत यह गण-गोत्रों की भाषाओं का कबीले की भाषा में, कबीलों की भाषाओं का उपजाति और जाति की भाषा में और जातियों की भाषाओं का आधुनिक राष्ट्रभाषा में सहमिलन से हुआ।

आदि काल के गण-गोत्र, कबीले और उपजाति समुदाय, प्रकृति के प्रचण्ड विरोधी तत्त्वों के कारण, जिनसे सुरक्षा तथा द्वन्द्व के साधन अभी नितान्त अपूर्ण और स्वल्प थे, एक-दूसरे से विच्छिन्न रहते थे। इसलिए उनकी बोलचाल की भाषा एक ही नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार दासता के युग में विशाल भूखण्डों पर दूर-दूर तक फैले हुए महान् साम्राज्यों के अधीन सब

लोग एक ही मातृभाषा नहीं बोलते थे । किसी आर्थिक आधार पर न होकर ये साम्राज्य गण-गोत्रों और कबीलों के समूह-मात्र होते थे, जो अपनी-अपनी भाषाएँ बोलते थे और अपने-अपने ढंग का जीवन व्यतीत करते थे ।

लेटिन बहुधा रोमन साम्राज्य की 'विजयी भाषा' कही जाती है, उसका उल्लेख इस तर्क के समर्थन में किया जाता है कि एक समय भारत में संस्कृत भी उसी पद पर आसीन थी । वास्तव में लेटिन, दो हजार वर्ष पूर्व इटली के मध्य में एक छोटे-से पृथक् इलाके की बोली थी । उसकी दो सहोदरा बोलियों—ओसकन और उम्ब्रियाँ—के अवशेष अभी इस शताब्दी के प्रारम्भ तक^१ वर्तमान थे । जहाँ-जहाँ रोमन शासक गये थे अपने साथ इस भाषा को भी लेते गए, ताकि विभिन्न प्राजित प्रदेशों में वे ऐसे टापू बना सकें जो उनकी अपनी प्रतिकृति के अनुसार हों । रोमनों के लिए नगरों के जीवन को फिर से इस तरह ढालना और उनमें इस तरह कृत्रिमता का लाना इसलिए आवश्यक था कि इसके द्वारा विजित जाति के एक भाग को साम्राज्य-शासन स्वीकार कराया जा सकता था और फिर इसे उनके द्वारा बाकी सब पर आरोपित किया जा सकता था । इस प्रकार लेटिन भाषा, जिसे रोमन साम्राज्य ने शासकीय माध्यम संचारित किया, जब दूर-दूर तक फैली तो वह इन प्रदेशों की आम बोलचाल की भाषा न थी । साम्राज्य के समाप्त होने के बाद, मध्ययुग के शासकवर्ग ने इसे अत्यन्त उपयोगी पाया । कैथोलिक चर्च ने इस भाषा को अपनाया जैसे कि उन्होंने रोमन साम्राज्य की अनेक अन्य परम्पराओं को भी ग्रहण किया । सामन्ती चर्च ने भी यही ठीक समझा कि उसकी अपरिवर्ती और शाश्वत धर्म-विधियों तथा व्यवस्थाओं का प्रतिपादन और पारोषण मुख्यतः एक अपरिवर्ती भाषा द्वारा होना चाहिए । यद्यपि यह अधिकांश जनता के लिए अगम्य थी, फिर भी लेटिन विधि प्रशासन, पाण्डित्य और कुछ सीमा तक शासकवर्ग की पद्य की भाषा बनी रही और बाद में यूरोप के विभिन्न देशों में प्रमुख सामन्ती हितों का परमाधिकार हो गई । निस्सन्देह इसका बोलचाल की भाषाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा । बाद में लेटिन के इस प्रभुत्व पर आपत्ति उठाई गई परन्तु यह तब हुआ जब सामन्त वर्गों के अधिकारों का विरोध होने लगा ।

हम आगे देखेंगे कि इतिहास के विभिन्न कालों में बहुधा बनावटी 'वर्ग-भाषाएँ' या अपभाषाएँ अलग से कैसे अस्तित्व में आ जाती हैं । ये एक

१. देखिए—ह्विटने : लैंग्वेज एण्ड इट्स स्टडी ।

२. प्रो० डब्लू० आर० लाकवुड—“लैंग्वेज एण्ड दि राइज आव नेशन्स”—

साइन्स एण्ड सोसाइटी—संख्या १८, न० ३ ग्रीष्म १९५४ ।

या अधिक कबीले और जाति की भाषाओं की एक अलग शाखा के रूप में जन्म लेती हैं। इनका अपना कोई अलग से व्याकरण का चौखटा अथवा बुनियादी शब्दों का भण्डार नहीं होता है और न ही यह एक स्वतन्त्र भाषा होती है, अतएव समाज के जिस विशेषाधिकार वाले भाग ने इसका सृजन किया होता है उसी के साथ ही इसका वृद्धिरोध और परिसमाप्ति हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या संस्कृत भी लेटिन की तरह एक कृत्रिम 'वर्ग-अपभाषा' थी, या यह आम बोलचाल की भाषा थी जैसा कि बहुत से भारतीय और कई यूरोपीय विद्वानों का मत है। गोल्डस्टकर, कीथ और लीबिच का मत है कि पाणिनि के समय में (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०, बुद्ध के तुरन्त बाद) जब आदि-प्राकृत साहित्यिक भाषाओं के रूप में उभर रही थी तब संस्कृत एक शिष्ट वर्ग की बोलचाल की भाषा^१ थी। पाणिनि के अष्टाध्यायी के अध्ययन से डॉ० वामुदेवशरण अग्रवाल^२ भी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं और उन्होंने संस्कृत को शिष्ट व्यक्तियों की प्रामाणिक भाषा कहा है, जिसे वे बिना सीखे ही ठीक-ठीक बोल सकते थे। इस विषय पर लम्बी विवेचना करते हुए डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती कहते हैं : "संस्कृत केवल यास्क और पाणिनि के समय में ही बोलचाल की भाषा न थी. किन्तु, हमारे पास यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि वह बहुत बाद में, अर्थात् कात्यायन और पातञ्जलि के समय तक, वैसी ही बनी रही। अपने साहित्यिक विकास के उर्वरा युग में भी वह निःसन्देह बोलचाल की भाषा थी यद्यपि उसका चलन सम्भवतः उच्चश्रेणी के पठित समाज ही तक सीमित था^३।"

यह तर्क कि 'संस्कृत शिष्ट वर्ग की अपनी अलग बोलचाल की भाषा थी, युक्तिसंगत नहीं है। ईसा संवत् से पूर्व भारत में रहने वाले ब्राह्मण तथा शासकवर्ग के शिष्ट सदस्यों की अपनी कोई ऐसी पृथक् मातृभाषा नहीं हो सकती जिसकी अलग ही व्याकरण की पद्धति और मूल शब्द हों क्योंकि किसी समाज के शिष्ट अल्पसंख्यकों की इस प्रकार की बोलचाल की अलग भाषा होना नितान्त असम्भव है। समाज में आदान-प्रदान करने और रहने-सहने के साधन के रूप में भाषा तभी उपयोगी हो सकती है जब इसका सम्पूर्ण

१. ए० बी० कीथ—हिस्टरी आव संस्कृत लिटरेचर।

२. डॉ० वामुदेव शरण अग्रवाल : इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि—लखनऊ वि० वि०।

३. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : दि लिग्विस्टिक स्पेक्युलेशन आव दि हिन्दूज—कलकत्ता वि०।

समाज और सब वर्गों की साधारण बोलचाल की भाषा होकर प्रयोग हो। अपने समस्त सदस्यों में एक सामान्य भाषा के बिना कोई समाज बना नहीं रह सकता। यदि एक जाति में कुछ विशेषाधिकारों वाले वर्ग तथा सामान्य वर्ग की अलग-अलग भाषाएँ हों तो शासक वर्ग के लोग शोषण नहीं कर पायेंगे, समस्त उत्पादन क्रियाशीलता नष्ट हो जायगी; आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जायगा और वह तमाम तन्तु जो समाज को बाँधकर रखते हैं टूट-फूट जायेंगे।

चूँकि अपने अलग-अलग शब्द भण्डार और व्याकरण की पद्धति को लेकर विशेषाधिकारों वाले तथा सामान्य वर्ग के लिए दो विभिन्न बोलचाल की भाषाएँ नहीं हो सकतीं, इसलिए संस्कृत एक कृत्रिम भाषा ही हो सकती है जिसका आधार उस काल के समस्त समाज की सामान्य भाषा की व्याकरण-पद्धति और शब्द भण्डार पर हुआ।^१ जनसाधारण की बोलचाल की भाषा से स्वतन्त्र, शिष्ट वर्ग की अपनी अलग बोलचाल की भाषा का अस्तित्व असम्भव होने के कारण संस्कृत केवल संभाषणोत्तर अपभाषा ही हो सकती है जो उस काल की एकमात्र बोलचाल की भाषा की प्रशाखा होकर अस्तित्व में आई। यह तथ्य कि “शिष्टजनों ने साहित्यिक कृतियाँ अपनी विशिष्ट वर्ग-भाषा में कीं और उसी के माध्यम द्वारा आपस में विचार-विनिमय किया,” यह स्थापित नहीं करता कि वह उनमें से किसी व्यक्ति की मातृभाषा थी, अथवा उस वर्ग के बालक प्रथम शब्द उसी भाषा में बोलते थे।

यहाँ उन युक्तियों की विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है जिन के आधार पर संस्कृत को ग्राम बोलचाल की भाषा सिद्ध किया जाना है; जैसे पाणिनि का अपने सूत्रों में प्रश्नोत्तर, प्रशंसा और कुत्सा, दूर से पुकारने, आज्ञा लेने, अभिवादन, प्रत्यभिवादन, मानसिक सन्तर्जन, विमर्श, आख्यान, ग्रामन्त्रण, शीघ्रता इत्यादि के लिए शब्दरूपों का उल्लेख तथा पातञ्जलि द्वारा एक आख्यान का वर्णन जिसमें एक सारथि केवल संस्कृत में वार्तालाप ही नहीं करता है किन्तु एक वैयाकरण से प्रज्ञित शब्द की व्युत्पत्ति पर विवेचना भी करता है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि ये पद एक अपभाषा के लिए भी उतने ही आवश्यक हैं जितने बोलचाल की भाषा के लिए; और यह भी कि संस्कृत ग्रन्थों

१. जे० वेंद्रीएज : विशेष भाषाएँ सामाजिक भेदों का परिणाम हैं। सिद्धान्त रूप से वे उतनी ही स्वाभाविक हैं जितनी कि बोलियाँ, किन्तु उनका जन्म सामान्य भाषा के गर्भ ही से होता है और उसी से वह अपना पोषणतत्त्व लेती रहती हैं।

की उक्तियों को बिना छानबीन किये स्वीकार न कर लेना चाहिए । रामायण के अनुसार हनुमान ने सीता को सन्देश शुद्ध संस्कृत ही में दिया था ।

एक तर्क जो बहुधा दिया जाता है और जो विशेषकर विचारणीय है यह है कि पाणिनि की विशाल व्याकरण प्रणाली कभी अस्तित्व ही में न आती यदि संस्कृत उस काल (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०) में बोलचाल की भाषा न होती ।^१ पाणिनि की व्याकरण-प्रणाली को बोलचाल की संस्कृत से इस तरह अचानक ही कैसे निष्कृष किया जा सका यह कल्पनातीत है । वास्तव में व्याकरण एवं ध्वनि के इतने जटिल नियमों द्वारा जकड़ी हुई कोई भाषा बोलचाल की भाषा हो ही नहीं सकती और न ही वह किसी की मातृभाषा हो सकती है, बेशक वह कितना ही विद्वान् क्यों न हो ।

व्याकरण वाक्य-रचना और आकार-विज्ञान के स्वाभाविक नियमों के निराकरण के ऐसे क्रम का फल है जो मानवीय चिन्तन द्वारा बहुत समय तक निरन्तर होता रहा । व्याकरण के नियमों की सार निकालने का यह क्रम उस समय के तुरन्त बाद ही शुरू हो गया, जब शत-शत वर्षों से सृष्ट हो रही समाज की सामूहिक सांस्कृतिक परम्परा का शोधन और सम्पादन ऋग्वेद के रूप में हुआ । पाठशुद्धता को बचाये रखने के लिए रचे गये विशेष ग्रन्थों—प्रतिशाख्य और अनुक्रमणी—में सन्धी और ध्वनि के नियमों का प्रतिपादन किया गया । शीघ्र ही निषण्डुओं द्वारा कोषरचना का प्रारम्भ होने लगा, जिन पर यास्क के भाष्य में व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न उठाये गए हैं । बाद में सार निकालने का यह क्रम और भी आवश्यक और परिष्कृत होता गया जैसे-जैसे जनता की भाषा वेदों की भाषा से दूर होती गई । यह आदि भारतीय-आर्य भाषाओं के विकास के स्वाभाविक क्रम से ही नहीं हुआ किन्तु कई अनार्य तत्वों के आम बोलचाल की आर्य भाषाओं में संविलय द्वारा भी हुआ । संस्कृत व्याकरण की वैश्लेषिक रीतियाँ, निरुक्त में प्रतिपादित व्युत्पत्ति के सिद्धान्त और धातुओं की विस्तृत सूची क्रमशः सर्वांगपूर्ण और परिहृद् होती गई । यास्क के पहले १७ निरुक्त के लेखकों का उल्लेख है और वह स्वयं पाणिनि का पूर्ववर्ती था । धीरे-धीरे व्याकरण केवल धर्मग्रन्थों की भाषा की प्राप्ति और परिरक्षण का माध्यम ही नहीं रहा, किन्तु अध्ययन करने के लिए एक विज्ञान का रूप धारण कर गया, जिसमें शब्द, वाक्, नाद इत्यादि को देवत्व के पद पर आसीन कर दिया गया और उनकी परिकल्पना तत्त्वज्ञान के रूप में होने लगी । यह क्रम पाणिनि के काल तक निरन्तर चलता

१. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : दि लिग्विस्टिक स्पेक्युलेशन आव दि हिन्दूज—
कलकत्ता वि० ।

रहा, यहाँ तक कि जैसा कोलब्रुक ने इंगित किया है, यह “अपवादों और सीमाओं की अन्तहीन खोज बन गया जो साधारण नियमों को इतना उलझा देता कि विद्यार्थी की दृष्टि में उनके अभिप्रेत सम्बन्धन और पारस्परिक अनुषंग लोप हो जाते। वह एक दुर्गम भूलभुलैया में खो जाता और उस भूलभुलैया की कुञ्जी उसके हाथ से बराबर निकल जाती।”

दांते (इटली के कवि—१२६५-१३२१ ई०) ने लेटिन और ग्रीक भाषाओं को व्याकरण (ग्रामर) नाम से पुकारा है और संस्कृत भाषा का वर्णन भी इसी नाम से भले ही किया जा सकता है। यूरोपीय इतिहास में सर्वप्रथम दांते ने ही अपनी ‘दि वुलगारी इलोक्यून्टिया’ में भाषा सम्बन्धी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रश्न उठाये। दांते के विचारानुसार लेटिन एक उपसृष्ट बल्कि कृत्रिम भाषा अथवा व्याकरण है जो प्राचीनकाल में जीवित भाषाओं में से, लिखित शब्दों को नियमबद्ध करने और उन्हें स्थायित्व देने के लिए बनाई गई। दांते ने रोमन लोगों की लेटिन के समान ग्रीक लोग की ऐसी ही व्याकरण का उल्लेख भी किया।^१

‘संस्कृत’ शब्द के उद्गम के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस कृत्रिम भाषा को ‘व्याकरण’ कहना कितना उचित है। संस्कृत में वाक्य का विश्लेषण वाक्य के वर्गीकरण पर ही समाप्त नहीं होता है, किन्तु इसके भागों के अन्तिम तत्त्वों तक चलता है, यथा प्रकृति अर्थात् शब्दमूल और प्रत्यय तक। यह विश्लेषण जिसे संस्कार कहा जाता है, संस्कृत व्याकरण का मूल-भूत सिद्धान्त है और प्राचीन व्याकरणों की भाषा को दिये हुए प्रसिद्ध नाम संस्कृत का समाधान करता है।^२ पवित्र ग्रन्थों की भाषा का नाम संस्कृत तभी हुआ जब संस्कार पर आधारित व्याकरण की इस पद्धति का पूर्णरूप से विकास हुआ।

वेदों की साहित्यिक भाषा छन्दस् अथवा नैगम कही जाती थी जबकि इसके विपरीत बोलचाल की भाषा को लौकिक कहा जाता था। यास्क के निरुक्त और पाणिनि के अष्टाध्यायी में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि वेदों की साहित्यिक भाषा में और जनता की बोलचाल की भाषा में बहुत पहले से भेद किया गया था। पातंजलि ने इस भेद का उल्लेख अपने ‘शब्दानुशासन’ के प्रारम्भ में किया है और एक स्थान पर कहा है वैदिक शब्द रूढ़िबद्ध हैं और

१. डब्लू० आर० लाकवुड : लैंग्वेज एण्ड राइज आव नेशन्स—साइंस एण्ड सोसायटी—भाग १८ नं० ३—ग्रीष्म १९५४।

२. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिग्विस्टिक स्पेकुलेशन आव दी हिन्दूज।

वेदों द्वारा ही सीखे जा सकते हैं और साधारण प्रयोग के शब्द प्रचलित बोल-चाल से लिए जा सकते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'छन्दस्' जो ऋग्वेद की भाषा कही जाती थी, भारत के उत्तरपश्चिम में बसने वाले आदि आर्य कबीलों की गण-भाषाओं के मिश्रण से बनी थी ।^१ यह क्रम अत्यन्त दीर्घकाल तक जारी रहा होगा और उसके द्वारा एक या दो केन्द्रीय स्थित अथवा संख्या में अधिक बोली जाने वाली गण-भाषाओं से व्याकरण का चौखटा और आधारभूत शब्द भण्डार उपलब्ध हुए होंगे और आसपास की अन्य गण-भाषाओं द्वारा यह समृद्ध और ईषत्परिवर्तित हुई होगी । आम बोलचाल की न होने पर भी ऐसी सामान्य भाषा को प्रायः सब समझ सकते होंगे क्योंकि इसमें अधिकतर उन धातुओं और शब्दों को ही ग्रहण किया गया होगा जो आसानी से अनेक भाषा-क्षेत्रों में समझे जा सकें ।

होमर की इलियड और ओडस्सी की भाषा (६००-८०० ई० पू०) के विषय में जार्ज थामसन कहते हैं : "यह कविता की भाषा, ग्रीस की उपभाषाओं, बोलचाल की अथवा साहित्यिक, से भिन्न थी । देखने में यह मुख्यतः इयोलिक और आयोनिक की मिश्रित भाषा है, जिसमें आरकेडो और सीपरियन पर्याप्त मात्रा में हैं और कहीं एटिक भी है ।"^२ भारत में आर्य भी "गण-गोत्रों के रूप में आये और उनकी भाषाओं में गण-गोत्र सम्बन्धी भिन्नताएँ थीं"^३ । आदि वैदिक संस्कृत का विकास इन्हीं आर्य गण-गोत्रों और कबीलों की भाषाओं के सम्मिलन से उनकी प्रार्थनाओं और मन्त्रों की सम्भाषणोत्तर भाषा के रूप में

१. प्राचीन गण-गोत्रों (और उनकी भाषाओं) के सम्मिलन के उदाहरण वेदों में मिलते हैं । ऋग्वेद में भरत गण का सुदास के नेतृत्व में पुरुओं से संघर्ष का वर्णन किया गया है किन्तु बाद में इन दोनों गणों के नाम नहीं मिलते और उनके स्थान पर कुरुओं का उल्लेख है । डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार कुरुक्षेत्र में बसे इस कुरुगण की भाषा ही संस्कृत का आधार बनी (मध्य देश की साहित्यिक भाषा—मधुकर अप्रैल-अगस्त १९४४) । इसके विपरीत अफगान अकडेमी श्राव हिस्टरी ने पश्तो और संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत का उद्भव सिन्धु नदी की पश्चिमवर्ती भूमि में हुआ किन्तु इस सम्बन्ध में जो प्रमाण अफगानिस्तान सरकार द्वारा प्रकाशित 'आर्याणा' में दिये गए हैं वे अपर्याप्त हैं ।

२. जार्ज थामसन : स्टडीज इन एन्डयंट ग्रीक सोसायटी ।

३. सु० कु० चटर्जी : इन्डो आर्यन् एण्ड हिन्दी ।

हुआ। ऋग्वेद की भाषा का उल्लेख करते हुए अडोल्फ केगी कहते हैं, “यह अत्यन्त प्राचीन बोली है, समस्त व्याकरण-पद (स्वरांकन, ध्वनिविज्ञान, शब्द-रूप, धातुरूप, वाक्य-रचना) और शब्द-भण्डार में स्मृतियों, महाकाव्यों, नाटकों की उत्तरकालीन कृत्रिम भारतीय भाषा संस्कृत से, जिसकी भिन्नता होमर की भाषा और एटिक की तुलना में कहीं अधिक है। एक अर्थ में यह बोली भी कलात्मक अथवा काव्य-भाषा है जिसका विकास गीतकारों के संगों तथा मण्डलों में हुआ।”^१

यह हो सकता है कि कुछ वैदिक मन्त्र और ऋचाएँ गणों और कबीलों की उपभाषा में रचे गये हों^२ किन्तु इन अतिप्राचीन मन्त्रों की भाषाएँ भी ठेठ बोलचाल की भाषाओं जैसी होंगी इसमें संदेह है क्योंकि जब तक यह सामान्य बोलचाल की भाषा की तुलना में अधिक लययुक्त और पुरातन न हों तब तक उनमें चमत्कार और अभिमन्त्रित करने और उच्चकोटि की स्वरोत्पन्न की शक्ति हो ही नहीं सकती थी,^३ जो मन्त्रों और उस समय के काव्य के अन्य रूपों का मुख्य उद्देश्य था और जो सामुदायिक श्रम के लिये ही नहीं, अनुकरण द्वारा भौतिक जगत् में परिवर्तन की कल्पना और चेष्टा करने के लिए भी आवश्यक था। यथार्थ पर माया और कल्पित को आरोहित करना ही काव्य का प्रकार्य था क्योंकि यह अभी इन्द्रजाल से मुक्त नहीं हुआ था। उस समय गणों, और कबीलों का प्रत्येक सदस्य मन्त्रस्रष्टा अर्थात् कवि होता था क्योंकि भौतिक उपकरण अत्यन्त हीन होने के कारण इसके बिना प्रकृति की अथाह और प्रचण्ड शक्तियों का सामना किया ही न जा सकता था। इसी प्रकार इन

१. अडोल्फ केगी : स्टडीज इन ऋग्वेदिक इण्डिया।

२. ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबल की रचना इसी प्रकार कबीलों की अनेक भाषाओं में हुई। बाइबल शब्द ‘बिब्लोज’ पुस्तक की बहुवचन है और इसका अर्थ पुस्तकें हैं। बाइबल की भाषाओं के लिए प्रयुक्त शब्द पोलिग्लोट का अर्थ ही अंग्रेजी आदि भाषाओं में “बहुभाषी” पड़ गया है।

३. वाक् में ऐन्द्रजालिक शक्ति का निर्वेशन ऋग्वेद की इन ऋचाओं में दिखाई पड़ता है जहाँ वाक् ने अपने विषय में कहा है :

“मैं सम्पत्तियों की संकलनकर्ता रानी हूँ। मैं प्रज्ञा हूँ, और उनमें प्रथम जिसे यज्ञभाग्य मिलना चाहिए। देवों ने मुझे बहुरूप बनाया है, मैं कई स्थानों पर खड़ी होती हूँ, कई वस्तुओं में प्रवेश करती हूँ... मैं वायु के समान सांस लेती हूँ, आकाश से आगे, पृथ्वी से आगे, मेरा सब पर प्रभुत्व, अपनी ही शक्ति से मैं ऐसी हूँ।”

गणों और यूथों की अपनी-अपनी काव्य शब्दावली भी होती होगी क्योंकि इस के बिना उनकी बोली उच्चस्तर पर पहुँचकर मन्त्रों की शक्ति प्राप्त ही न कर सकती थी। किन्तु गणों की यह काव्यभाषा या शब्दावली कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक थी क्योंकि उस युग में काव्य प्रकृति से संघर्ष और उत्पादन का मुख्य वाहक होने के कारण समाज के अंग-अंग में ओतप्रोत था। बाद में जब समाज में वर्ग उत्पन्न होने लगे काव्य का मायामय तथा यन्त्र-मन्त्र का प्रकाय कम होने लगा। जैसे-जैसे कविता ने समग्र समाज की सामान्य आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करना बन्द कर दिया वैसे-वैसे यह उत्पादन कार्य से दूर होती गई और समाज के प्रत्येक सदस्य का साधन होने की बजाय यह कुछ श्रेणियों में सीमित हो गई, जिनका व्यवसाय ही इन कविताओं का पाठ, विस्तार तथा प्रपंच होता गया।

अब प्रश्न यह है कि ऋग्वेद जिसकी सामग्री की रचना युग-युगान्तर तक होती रही अपने वर्तमान रूप में कब संकलित हुआ, उसकी भाषा कैसे अस्तित्व में आई और उसका उत्तरकालीन वैदिक साहित्य की भाषा से क्या सम्बन्ध है। ऋग्वेद संहिता की सामग्री संचयकाल से पूर्व तरल मन्त्रों के विशाल समुदाय के रूप में शत-शत वर्षों तक व्याप्त रही होगी। मैकडानल के कथनानुसार “ऋग्वेद में प्राप्त सब मन्त्रों के अस्तित्व में आने के लिए सैकड़ों वर्षों के समय की अपेक्षा हुई होगी” और विण्टरनिल के मतानुसार “सबसे पहले मन्त्रों की रचना और ऋग्वेद संहिता की पूर्ति के बीच में अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हुई होंगी”। सुनीति कुमार चटर्जी के विचार में “यह बिलकुल स्पष्ट है कि गायत्री तथा कुछ अन्य छन्दों का विकास ईरान में सम्भवतः मेसोपोतामियाँ में ही हो चुका था।...हमें ऋग्वेद संहिता के प्रथम मन्त्रों के रचयिता ऋषी मधुच्छन्दस् के काल का पता नहीं चलता और न विश्वामित्र का ही जिन्होंने प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र की रचना की थी। संकलन काल से चार पाँच सौ वर्ष पहले यदि उनकी रचना हुई होगी तो उसका रूप आज के उपलब्ध पाठ से बहुत भिन्न होगा”।^१

समाज में वर्गों के उत्पन्न होने के प्रारम्भिक काल में या उससे पूर्व सांस्कृतिक उपकरणों की सृष्टि का प्रकाय समग्र समाज में सामूहिक रूप से होता था। इसलिए एक व्यक्ति विशेष का किसी पुरातन या पाश्चात्य ऋग्वेद मन्त्र का रचयिता होने की कल्पना ही निराधार है। किन्तु यह निस्सन्देह है कि जिस भाषा में ऋग्वेद मन्त्रों का सामूहिक सृजन हुआ वह ऋक्संहिताओं की

भाषा से भिन्न थी। इस ऋक्संहिता युग के पूर्व की आदि-वैदिक भाषा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यद्यपि इसके कोई भी चिह्न उपलब्ध नहीं। अधिकतर ऋक्मन्त्रों का सृजन प्राग्वैदिक भारतीय समाज के वर्गों में खण्डित होने के पूर्व तथा उसके प्रारम्भिक काल में हुआ। उस समय यह मन्त्र सामूहिक श्रम के संस्कार ही नहीं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संभार और साधन भी थे। राधाकुमुद मुकर्जी के इस कथन से, कि ऋग्वेद का दृष्टिकोण घनिक वर्गों के लिए है, उसमें सार्वजनिक धर्म जो जनता के लिए उपयुक्त हो, कम ही मिलता है,^१ असहमत होने पर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय-आर्य समाज में वर्ग-विभाजन के स्पष्ट चिह्न ऋक्संहिता में प्राप्त हैं। उस समय काव्यसृजन और मन्त्रपाठ, समग्र समाज के सामूहिक श्रम द्वारा, प्रत्येक गण-सदस्य के जीवन का अंग न होकर एक श्रेणी विशेष की संपत्ति होकर रह गया था, जिसके फलस्वरूप व्यवसाय रूप में इन मन्त्रों का उच्चारण और शास्त्रकरण होने लगा था। यह भी हो सकता है कि ऐसी श्रेणियाँ एक से अधिक हों जो विभिन्न रूपों में इस सांस्कृतिक परिपाटी का संरक्षण तथा व्यवहार करती हों। इन्हीं में से किसी श्रेणी द्वारा अनेक गणों या कबीलों की भाषाओं के सम्मिश्रण से वैदिक भाषा का उदय हुआ होगा, जो कभी भी ग्राम बोलचाल की भाषा तो न थी, किन्तु प्रारम्भ काल में जिन बोलचाल की भाषाओं पर आधारित थी, उनके वह बहुत समीप थी; और यह सामीप्य उत्तरोत्तर मिटता गया। इस सम्बन्ध में डॉ० सुनीती कुमार लिखते हैं कि संस्कृत देश के किसी भाग की भी वास्तविक गृहभाषा नहीं थी। प्रारम्भ में आर्यों की कई बोलियों में से कलात्मक प्रयोजन के लिए एक साहित्यिक भाषा का विकास हुआ जिसमें कवियों ने अपने देवताओं की स्तुतियों की रचना की और जिनका १००० ई० पू० के थोड़े समय बाद वेदों के रूप में संकलन हुआ।^२

ऋग्वेद की यह संभाषणोत्तर साहित्यिक भाषा बोलचाल की न होने पर भी शुरू-शुरू में गणों और कबीलों की भिन्न-भिन्न ठेठ बोलियों के इसलिए भी बहुत समीप थी कि ऐसी कृत्रिम भाषा का अपना भिन्न व्याकरण सम्बन्धी ढाँचा और विशिष्ट मूल शब्द भण्डार नहीं होता, बल्कि इसका उत्पन्न एक-दो बोलियों के व्याकरण सम्बन्धी ढाँचे और बुनियादी शब्दावली के स्कन्ध पर अन्य बोलियों के प्रबल और श्रेष्ठ तत्त्वों का पैबन्द लगने से होता है। यह विधि जो दीर्घकाल तक होती रहती है किस समुदाय या श्रेणी द्वारा

१. राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता।

२. सु० कु० चटर्जी : इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी।

घटित हुई निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। यह कार्य चरकों द्वारा सम्पादन हुआ हो सकता है। ये चरक स्थान-स्थान में विचरण करने वाले विद्वान् थे जो देश भर में ज्ञान का प्रचार करते फिरते थे। आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त कर लेने पर जो उच्चतर ज्ञान की खोज में विचरते थे ऐसे उत्तम विद्वानों के लिए भी चरक नाम उस समय था। वेद-व्यास कृष्ण द्वैपायन के शिष्य वैशम्पायन को भी चरक कहते थे, सम्भवतः इसलिए कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर ज्ञान का प्रचार करते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गण-भाषा क्षेत्रों में विचरने वालों के द्वारा विभिन्न भाषाओं के ऐसे तत्त्वों के प्रयोग से जो अनेक भाषाक्षेत्रों में बोधगम्य हों एक ऐसी भाषा अस्तित्व में क्रमशः आई होगी जिसमें, भिन्न-भिन्न मातृभाषाएँ होने पर भी, वे चरक परस्पर ज्ञानचर्चा कर सकें।

ऐसी भाषा का जन्म किसी प्राचीन चरण द्वारा भी हुआ हो सकता है। प्राचीन वैदिक चरण उत्तरकालीन चरणों की अपेक्षा में बहुत व्यापक और विशाल थे। ऐसा ही एक प्रसिद्ध उदीच्य चरण 'कठ' था जिसके अनुयायी, जो चरक कहलाते थे, गाँव-गाँव में फैले हुए बताये गये हैं। एक ही उपनिषद्, जो गौतम बुद्ध से प्राचीन माना जाता है कठ चरण का है। ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध चरण शैशिरीय था जिसके अनेक भेद या शाखाएँ थीं। ऋक्संहिता का वर्तमान संस्करण इस शैशिरीय चरण की शालकशाखा का ही माना जाता है।

महाभारत और रामायण में सूत श्रेणी के व्यक्ति हमारे सामने राजकवि या गायक के रूप में आते हैं। वैदिक काल में 'राजकर्त्ताओं' में इन्हें उच्च स्थान प्राप्त था और सारथि होने के नाते विभिन्न गण-क्षेत्रों में वाहन करते हुए इन सूतों ने भी ऋक्संहिता की भाषा के उपजने में सहायता दी हो, यह सम्भव हो सकता है। एक और समुदाय जो वैदिक काल में स्थान-स्थान पर विचरण किया करता था और जिसने भी इस कार्य में अंशदान दिया हो सकता है वह ब्रातय है। डॉ० सुनीतिकुमार लिखते हैं कि वैदिक भाषा का एक प्राच्य रूप ब्रातय नामक अटनशील आर्यभाषी उपजातियों में भी प्रचलित था जो वैदिक अग्निहोत्र तथा ब्राह्मणीय सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था को मानने वाले नहीं थे।^१ 'पंचविंश ब्राह्मण' में कहा गया है कि ये ब्रातय लोग यद्यपि वैदिक धर्म में दीक्षित नहीं हैं फिर भी दीक्षा पाये हुएों की भाषा बोलते हैं। अथर्व वेद में इनके सम्बन्ध में लिखा है कि वे किसी अवैदिक प्रजननशक्ति के पुजारी थे और उनकी उपासना में नृत्य और कशाघात आदि शामिल था।

ये बेलगाड़ी में स्थान-स्थान पर विचरते फिरते थे । उनके साथ एक स्त्री होती थी जो वारसेवा करती थी और एक वादक जो उनके अवैदिक मन्त्रों के पाठ तथा अन्य रीति-विधि समय राग छेड़ता था । 'पंचविश ब्राह्मण' में ब्राह्म्यस्तोम यज्ञों का वर्णन है जिनके द्वारा इन ब्राह्म्यों, उनके अनुयायियों तथा अन्य अनाथों को वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया जाता था ।

उपरिर्चित सम्भाषणोत्तर भाषा के अस्तित्व में आने का कदाचित् यह फल नहीं था कि उस ऋग्वेदिक काल में बोलचाल की भाषाएँ गणों या कबीलों की अपनी-अपनी भाषा के रूप में न रही हों । कम होने की बजाएँ इन बोलचाल की भाषाओं की अनेकरूपता बढ़ती गई होगी यह अवश्यंभावी है । ऋग्वेदिक समाज में उत्पादन और सामूहिक श्रम के साधन अत्यन्त अकिञ्चन होने के कारण गणों में विभाजित यूथों का छोटे-छोटे होना अनिवार्य था । जब उसके सदस्यों की संख्या उस सीमा से बढ़ जाती जो उस समय के उत्पादन साधनों द्वारा निर्धारित थी तो अतिरिक्त सदस्यों को स्थानान्तरण करना पड़ता । षड्रात्र क्रतु या सारस्वत सत्र से स्पष्ट है कि यह स्थानान्तरण किस प्रकार प्रारम्भ होता था । प्रस्थान कर रहा लघु गण 'अध्वयु' के नेतृत्व में, जो अन्तरस्थ अग्नि वाले शमी के ढण्ड लिये होता, दस गाएँ और दस सांड लेकर नये निवासस्थान की खोज में निकल जाता; और वह तब तक यात्रा करता रहता जब तक सौ गायों भर को पालने के लिए चरागाह न मिल जाती । अन्ततः जब वे इस प्रकार अधिवास करते तो थोड़े समय में उनकी भाषा भी अपने उद्गम से विच्छिन्न हो कर एक नया रूप धारण करने लग जाती । इस सम्बन्ध में एस० ए० डांगे लिखते हैं : "उन दिनों यातायात के साधन बहुत कम थे । दूर-दूर तक फैले हुए जनसमूहों के बीच मेल-जोल एक तरह से असम्भव था । इसलिए विभिन्न गण-गोत्रों और कबीलों ने शीघ्र ही अपनी विभिन्न छोटी भाषाओं को विकसित कर लिया था । यहाँ तक कि कुछ ही समय के बाद अपनी गण की मूल भाषा से वे भाषाएँ एकदम भिन्न दिखाई देने लगी थीं । महामारी या विनाश द्वारा जब कोई कबीला क्षीण हो जाता तो वह किसी और गोत्र के लोगों को अंगीकार कर लेता या उनमें जा मिलता । इससे कई नये कबीलों और गणों की भाषाएँ बहुत अंशों में मिली-जुली होती थीं । संस्कृत व्याकरण ऐसी विशेषताओं से भरी पड़ी है और व्याकरण के वे विद्वान् जिनके पास सामाजिक इतिहास का ज्ञान नहीं है इन विशेषताओं को समझने की असफल चेष्टाएँ करते हैं । उदाहरण के लिए हम व्याकरण के महाविद्वान् पाणिनि को लें । अस्मद्-में, युष्मद्-तुम्, सर्वनामों के सात कारकों में बनने वाले द्वाकिस रूपों के

विषय को लेकर तेईस नियम उन्होंने बनाए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे कोई नियम नहीं हैं। भाषा की इन विशेषताओं को गण और कबीलों के मिश्रण या संयोग के द्वारा ही समझा जा सकता है। समय के साथ-साथ यह रूप-विकृति या परिवर्तन द्वारा बनते गये ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि पुरुषवाचक सर्वनाम इतनी सरलता से नहीं बदला करते।”^१

इससे सिद्ध होता है कि संहिता युग में बोलचाल की भाषाओं की अनेकरूपता बनी हुई थी और ऋक्संहिता की भाषा,^२ जिसके ही प्राचीनतम लेख-प्रमाण उपलब्ध हैं, आम बोलचाल की भाषा न होकर विभिन्न गण-बोलियों पर आधारित एक कृत्रिम भाषा थी। इसे किसी बोलचाल की भाषा-विशेष का साहित्यिक रूप-मात्र सिद्ध करना गलत होगा क्योंकि इस प्रकार के, बोलचाल की भाषा के साहित्यिक रूप, एक ही बोली पर आधारित होते हैं, किन्तु जैसा कि पहले वर्णित किया जा चुका है, संहिताओं की भाषा कई बोलचाल की भाषाओं के सम्मिश्रण से एक संभाषणोत्तर साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आई। संहिता शब्द का ही अर्थ है “खूब मिले-जुले या सटे हुए शब्द”, जैसे कि किसी कृत्रिम भाषा में ही हो सकते हैं। वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण तक सब के लिए सम्भव नहीं था। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे। मन्त्रों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अत्यन्त कठोर और अश्लिषिल नियम और शब्दों का स्थिर संयोग यह सिद्ध करता है कि ये विधिवत् पाठ में ही उपयुक्त थे। छन्दस् या वैदिक कविता की साधुभाषा सप्रयास अध्ययन की भाषा ही थी। पाणिनि ने भी वैदिक व्याकरण के रूपों का चर्चा ‘लौकिक’ भाषा के अपवाद रूप में की है।

छन्दस् के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा अस्तित्व में आती है। भारतीय आर्य गद्य साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण इनकी भाषा को उस काल की बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधि माना जाता है,

१. एस० ए० डांगे—इन्डिया फ्रोम प्रिमिटिव कम्प्यूनिज्म टू स्लेवरी।

२. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने संहिताओं के विकास की चार अवस्थाएँ बताई हैं : “(अ) सबसे पूर्व मन्त्रों का उदय, (इ) विभिन्न केन्द्रों अर्थात् ऋषियों के कुलों में नूतन रचना द्वारा मन्त्रों का बाहुल्य, (उ) ऋग्वेद संहिता के रूप में मन्त्रों का एकत्र चुनाव, एवं (ऋ) उस मौलिक सामग्री से जो ऋग्वेद संहिता में सुरक्षित और संगृहीत की गई अन्य तीन वैदिक संहिताओं का विकास” (हिन्दू सभ्यता)।

किन्तु इस भाषा का सृजन जन-साधारण द्वारा ग्रामों तथा नगरों में नहीं अरण्यों और चरणों में हुआ। अरण्य वे आश्रम थे जो एकान्त स्थानों में दार्शनिक और रहस्य सम्बन्धी विषयों के अध्ययन के लिए बनाये गए थे और 'चरण' विद्या संस्थाएँ थीं जिनका शिक्षा और साहित्य के निर्माण में बहुत व्यापक महत्व था। चरणों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा-ग्रन्थ कण्ठस्थ कराये जाते थे। वहाँ के अध्येत छात्रों और पाठ्य छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम इन चरणों के नाम से प्रचलित होते थे। ये ब्राह्मण ग्रन्थ कैसे विकसित हुए यह शतपथ ब्राह्मण के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। एक सौ अध्यायों वाला सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण इस समय याज्ञवल्क्य की रचना माना जाता है किन्तु इसके कई काण्ड अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में विभिन्न चरणों में विद्यमान थे और बहुत पीछे चलकर एक महाग्रन्थ में वे संगृहीत हुए।

चरणों में जिस गद्य-शैली का प्रयोग हुआ, स्वाभाविक ही उसमें संहिताओं के लिए गढ़ी हुई शब्दावली अपना ली गई जिससे यह भाषा, बोलचाल की भाषाओं के अधिक समीप होने पर भी, मन्त्रों की भाषा के समान ही सम्भाषणोत्तर बनी रही। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक हैं, जो कि उपनिषदों से पहले की कड़ी थे। उस समय तक यह भाषा जो अभी संस्कृत नहीं पुकारी जाती थी अपरिवर्तनीय होने लगी थी। इसके विपरीत आम बोलचाल की आर्य गणों या कबीलों की भाषाएँ अनेक अनार्य तत्त्वों को ग्रहण करके, विकासोन्मुख भौतिक उपकरणों के साथ-साथ, तेजी से आगे बढ़ रही थीं। जैसे-जैसे बोलचाल की भाषाओं और इस कृत्रिम साहित्यिक भाषा में अन्तर बढ़ता गया वैसे-वैसे व्याकरण के नियम और भी परिष्कृत होते गए। वस्तुतः यह महान् आचार्यों का युग था और एक नया वर्ग ऐसा भी फैलता जा रहा था जो चरण और अन्य वैदिक संस्थाओं से स्वतन्त्र रहकर व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में बिलकुल नई रचनाएँ कर रहा था। शाकटायन, आपिशलि, स्फोटायन और भारद्वाज आदि ऐसे ही आचार्य थे। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों की परिश्रमसाध्य और शब्दाडम्बरयुक्त गद्य शैली के स्थान पर एक और कृत्रिम शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो 'सूत्र' के नाम से पुकारी जाती थी और जिसकी विशिष्टता अत्यन्त सूक्ष्मता और संक्षिप्तता थी।

सूत्रों की भाषा के सम्बन्ध में राघाकुमद मुकर्जी लिखते हैं : "संक्षिप्त नियमों के रूप में एकत्र परोये हुए शास्त्रीय अनुशासन के ग्रन्थ सूत्र कहलाए। (इनमें) अधिक-से-अधिक सामग्री कम-से-कम शब्दों में दी जाती है।" यह भाषा, जिसके सबसे पहले वेदांग सम्बन्धी ग्रन्थ पाणिनि के भी पूर्ववर्ती थे,

ग्राम बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती थी और यत्नसाध्य शिक्षण द्वारा वर्षों में ही प्राप्त की जा सकती थी^१। पाणिनि में यह संक्षिप्तिकरण इस सीमा तक जा पहुँचा कि वह बीजगणित पद्धति की-सी अंकविद्या बनकर रह गया। वैसे भी पाणिनि का समय बुद्ध के बाद का है जब कि आदि प्राकृत भाषा संस्कृत के स्थान पर 'बोलचाल की भाषा' का रूप धारण कर चुकी मानी जाती है।

संस्कृत भाषा और साहित्य का स्वर्ण काल पाणिनि से भी आठ सौ वर्ष बाद आता है जब कि बहुत से ब्राह्मण वर्णों के लोग भी संस्कृत नहीं बोल सकते थे, जैसा कि संस्कृत नाटकों में विदूषक के पात्र से सिद्ध होता है। उस समय संस्कृत बोलचाल की भाषा थी यह कोई भी नहीं मानता। किन्तु इस प्रामाणिक संस्कृत और वैदिक भाषा में जो अन्तर है वह यह सिद्ध करता है कि एक कृत्रिम भाषा अपना स्वतन्त्र विकास, जैसा कि पाणिनि-युग के पहले ही से हो रहा था, अधिक देर नहीं कर सकती और इसे अमरबेल की तरह सदा बोलचाल की भाषाओं से पोषण लेना होता है।

स्वरध्वनि की जड़ता बहुत अंशों में बनाये रखने पर भी बोलचाल की समकालीन भाषाओं के अनुरूप इनमें अनेक शब्दावली और व्याकरण सम्बन्धी परिवर्तन हुए। कृत्रिम भाषा पर जनता की बोलचाल की भाषाओं का कितना प्रबल प्रभाव पड़ सकता है, इसका उदाहरण रामायण और महाभारत की भाषा है जो समस्त संस्कृत साहित्य में सबसे लोकप्रिय थी। यह भाषा निश्चित रूप में प्रामाणिक संस्कृत होने पर भी पाणिनि निर्दिष्ट नियमों का बार-बार उल्लंघन करती है और इस में आदि मध्य-भारतीय-आर्य भाषा के कई आकार हैं। महाभारत आदि की गाथाओं की सूतों द्वारा आख्यान की परम्परा ऋग्वेद काल से ही प्रारम्भ होती है किन्तु इसकी भाषा में प्राग्-पाणिनि भाषा के कोई भी

-
१. चीनी यात्री 'ह्वेन-त्सिंग' ने, जिसने भारत की सातवीं शताब्दी ई० में यात्रा की, बताया है कि संस्कृत का अध्ययन करने के लिए कितना परिश्रम किया जाता था। उनके वर्णनानुसार छः वर्ष के होते ही बालक ४६ अक्षर और १०,००० संयुक्त अक्षर सीखना आरम्भ कर देते; आठ वर्ष का होने पर वे व्याकरण कण्ठस्थ करते और दस वर्ष की आयु पाने पर वे धातु-सूचियों और शब्दरूपों की विद्या प्राप्त करने लगते, जो पाँच वर्ष तक जारी रहती थी। पन्द्रह वर्ष की आयु होने पर उन्हें पाँच और वर्षों के लिए भाष्यों का अध्ययन करना होता था।

तत्त्व नहीं । ^१ इसी प्रकार उस काल की अन्य साहित्यिक सामग्री भी जिस भाषा में आज उपलब्ध है उसी में साधारणतः नहीं रची गई थी; और उनका सर्जन पहले-पहल गए भाषाओं में हुआ हो यह असम्भव नहीं ।

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि प्रारम्भ ही से संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी, यद्यपि अपने प्राग्-वैदिक स्वरूप में यह सब की सामान्य सम्पत्ति थी । वर्गों के उद्भव के साथ-साथ यह उच्चवर्ग की अपभाषा में परिवर्तित होती गई । जैसे-जैसे लोहे का प्रचार बढ़ने से भौतिक स्तर उठने लगा, वैसे-वैसे जन-भाषाएँ तेज़ी से आगे बढ़ने लगीं और यह वर्ग-भाषा अधिकाधिक सीमित और अपरिवर्तनीय बनती गई । महाभारत युद्ध के पूर्व लोहकालीन नगरों के विस्तार ने जनता की बोलचाल की भाषाओं को विशेष रूप से समृद्धिमान किया । महाभारत युद्ध के पश्चात् जब जातियों का मिश्रण हुआ और देशज भाषाओं के अनेक तत्त्वों का समावेश आर्य गणों और उप-जातियों की बोलचाल की भाषाओं में हुआ तो संस्कृत का कृत्रिम स्वरूप और भी स्पष्टता से निर्धारित हो गया ।

स्टुअर्ट पिगट का कथन है कि भारतीय पगड़ी जिसका अभी तक उत्तर पश्चिम भारत में आम प्रचलन है, हड़प्पा संस्कृति की देन है ।^२ हड़प्पा-कालीन मानव के बहुतेरे सांस्कृतिक संचयन अभी तक चले आ रहे हैं । मुख्य वैदिक काल के पश्चात् के देवताओं, आर्य स्वस्तिक तथा भारतीय समाज के पुरोहित प्रधान रूप की खोज सिन्धु घाटी की सभ्यता तक की जा रही है । कुछ लोगों ने ब्राह्मी एवं देवनागरी लिपि का सन्धान हड़प्पा काल में किया है । मानव-सजित वस्तुओं में भाषा सबसे सुदृढ़ है । इसका नाश या समाप्ति कठिनतम है । ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें पहली बार गौर वर्ण ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक बुद्धि-शाली एवं चतुर कृष्ण-वर्ण वाले ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है । इन ग्रन्थों में ही हमें पहली बार हड़प्पा-कालीन पगड़ी का उल्लेख मिलता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ब्राह्मण काल तक (८०० ई० पू०) देशज अनार्य बोलियों ने आर्यों की बोलचाल की भाषाओं को अत्यन्त प्रभावित कर दिया था । संस्कृत भाषा में प्राकृत ^३ तथा द्राविड़ ^४ भाषाओं के जो शब्द विद्यमान हैं, उनका

१. देखिए सु० कु० चटर्जी : इन्डोआर्यन् एण्ड हिन्दी ।

२. स्टुअर्ट पिगट : प्रिहिस्टारिक इण्डिया ।

३. विधुशेखर भट्टाचार्य : प्राकृत का संस्कृत पर प्रभाव—कलकत्ता रिव्यू अप्रैल १९५३ ।

४. निलूरस्वामी एस० गण प्रकासर : लिग्विस्टिक एविडेन्स फार दि कामन

समावेश उसी समय हुआ होगा ।

प्राकृतों को जनता की असंस्कार की हुई अथवा स्वाभाविक बोलचाल की भाषा बतलाते हुए कुछ भाषाविदों में इन्हें वैदिक संस्कृत—संस्कार की हुई भाषा—से पहिले की या समकालीन माना है । किन्तु प्राकृत भाषाएँ, जिनके लिखित प्रमाण हमें प्राप्त हुए हैं, बाद की सृष्टि हैं । यह भी उल्लेख किया गया है कि संस्कार की हुई अथवा संस्कार न की हुई भाषाएँ, अपने प्रारम्भिक काल में ही विच्छेद होने के बाद, दो अलग धाराओं में प्रवाहित होने लगीं तथा ये दो विभिन्न स्तर के लोगों द्वारा बोली जाती रहीं और इनका परस्पर मिलना-जुलना नहीं होता था । किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल में समाज की बोलचाल की भाषा, जो स्वभावतः कबीलों की भाषा की अवस्था में थी, समस्त वर्गों के लिए सामान्य थी । विशिष्ट वर्ग के लोग संस्कृत को अपने वर्ग की अपभाषा के रूप में व्यवहार में लाते थे । फिर भी वे जनता की सामान्य बोली का, जो उनकी भी मातृभाषा थी, व्यवहार करते रहे और ये अपने वर्ग की कृत्रिम भाषा के पोषण के लिए इसका निरन्तर आश्रय लेते रहे थे ।

जैसे समाज की उत्पादन क्षमता के साथ-साथ कबीलों की सामान्य भाषा में वृद्धि होती गई, वैसे उसमें नये शब्द बनने लगे और प्राचीन शब्दों का नवीन अर्थों में प्रयोग होने लगा । विशिष्ट वर्ग के लोगों ने जनता की इन कृतियों का अपनी भाषा में उपयोग किया यद्यपि उन्होंने व्याकरण के स्वरूप एवं शब्द-गठन के नियमों को स्थिर रखा और उधार लिये हुए शब्दों का अपने व्याकरण के नियमों के अनुसार परिवर्तन कर लिया^१ । काव्यकल्पना एवं पदावली के लिए भी साहित्यिक भाषा में शब्दों का निर्माण किया गया था किन्तु यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि संस्कृत के इन पर्यायवाचियों में से कौन से कृत्रिम रूप से निर्माण किये गए और कौनसे जनभाषाओं से उधार लिये गए ।^२ उदाहरण, 'पेड़' के लिए संस्कृत पर्यायवाची वृक्ष, तरु, द्रुम, पादप

ओरिजिन आफ़ ड्रावेडियनज़ एण्ड एण्डो यूरोपियनज़—तामिल-कल्चर—
जनवरी १९५३ ।

१. कुमारिल ने स्वीकार किया है कि आर्य विदेशी भाषाओं के शब्द छांट लेते थे और आवश्यक परिवर्तन के बाद संस्कृत में बदल लेते थे ।
२. वैदिक भाषा में शास्त्रीय संस्कृत से अधिक पर्यायवाची शब्द हैं और वैदिक काल की बोलचाल की गए भाषाओं में तो उनसे कहीं अधिक पर्यायवाची शब्द रहे होंगे, जो आज हमें वैदिक संस्कृत द्वारा प्राप्त हैं । आदि समाज में मनुष्य निकटस्थ पदार्थों और प्राकृतिक उपादानों के लिए

इत्यादि हैं किन्तु प्रथम दो ही ऐसे हैं जो आज तक भी उत्तर-भारतीय बोल-चाल की भाषाओं में व्यवहृत होते हैं। शासक-वर्ग ने सामान्य अर्थों के स्थान पर बोलचाल के शब्दों को अपने विशिष्ट अर्थों में भी प्रयुक्त किया, जैसे ऋग्वेद में 'गवेषणा' का तात्पर्य, 'खोई हुई गाय की खोज करना' था, किन्तु बाद की संस्कृत भाषा में इसका प्रयोग किसी भी समस्या की जाँच-पड़ताल के रूप में होने लगा। बहुधा बोलचाल की भाषा के दो शब्द जिनके एक ही अर्थ होते थे, जैसे सुख और आनन्द, संस्कृत में विभिन्न अवसरों के लिए विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार बोलचाल की भाषा के एक ही अर्थ वाले शब्द को भी संस्कृत में अनेक अर्थ दे दिये गए, जैसे रस शब्द का आयुर्वेद में पारे के अर्थ में और काव्य शास्त्र में काव्य के तत्त्व के रूप में प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे संस्कृत में से कई बोलचाल के शब्द हटते गए और सादृश्य एवं रूपक द्वारा नवीन शब्दों का निर्माण होता गया, जैसे गीता में उदय होते हुए सूर्य के लिए बालक और शरीर के लिए क्षेत्र का प्रयोग हुआ है। कभी-कभी यह शब्दव्युत्पत्ति ही भ्रांत होती, जैसे सुर—देवता, से असुर—राक्षस और सित—श्वेत, से असित—काला। संस्कृत के व्याकरण के नियमों की कठोरता के रहते हुए भी बोलचाल की भाषा के नवीन व्याकरण के तत्त्वों का उसमें समावेश होता रहा। क्रियापद के रूपों का जैसे-जैसे बोलचाल की भाषाओं में सरलीकरण हुआ, संस्कृत के भी जटिल शब्दाकार सरल होते गए। इस प्रकार 'संस्कार' की विश्लेषण प्रणाली का विकास ही नहीं हुआ, क्रियात्मक धातुओं का उपचय भी हुआ, जिनके साथ अनेक औपसर्गिक प्रत्ययों को जोड़कर एक क्रियात्मक धातु से सैकड़ों शब्दों का कृत्रिम भाषा के लिए निर्माण किया जा सका, ताकि उनके द्वारा साहित्यिक तथा दार्शनिक व्यञ्जना के प्रत्येक प्रयोजन की पूर्ति हो सके। उदाहरणतः धातु 'कृ' से ही औपसर्गिक प्रत्ययों की सहायता के सैकड़ों शब्दों का निर्माण किया गया।

यद्यपि एक कृत्रिम भाषा अपने पोषण के लिए बोलचाल की भाषाओं

पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया करता था जिससे उनकी विभिन्न दशाएँ और रूप सूचित हो सकें। आज भी बेंडुइन ग्ररब कबीले ऊँट के लिए साधारण शब्द प्रयोग करने की बजाय उसके विशेष कार्यों और रूपों के लिए बीसियों विशेष शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार फारले मोअत ने अपनी पुस्तक 'भृगुदेव के लोग' में बताया है कि एस्कीमो कबीले 'अहात्मुत' की भाषा में दरजनों ही शब्द हैं जिनका अर्थ किसी विशेष रूप में हरिण होता है।

पर आश्रित रहती है तथापि शासक वर्ग द्वारा निर्मित उसके रूपों और विकारों का प्रभाव बोलचाल की भाषा पर भी पड़ता है। यह प्रभाव संस्कृत के लिए तो अत्यन्त प्रगाढ़ होना स्वाभाविक है क्योंकि भारत में संस्कृत और उसके पोषक-वर्ग का सहस्राब्दियों तक प्रभुत्व बना रहा है। संस्कृत के स्वर्ण-युग से पूर्व ही ब्राह्मण धर्म का विस्तार होने लग गया था और उसके साथ-साथ ब्राह्मण वर्ग द्वारा निर्मित अनेक शब्दों का निचले वर्गों में क्षरण हुआ और ऐसे कई शब्दों ने बोलचाल में नया रूप धारण किया। यह भी हो सकता है कि कुछ व्याकरण सम्बन्धी परिवर्तन भी संस्कृत से ही बोलचाल की भाषा में चले आये हों। उदाहरणतः, वैदिक भाषा में 'न' के दो अर्थ 'निषेध' तथा 'सादृश्य' हैं किन्तु संस्कृत में केवल निषेध, जैसा कि बाद में बोलचाल की कई भाषाओं में भी हुआ; और आज तक पंजाब के कुछ भाषाक्षेत्र ऐसे हैं जिनमें 'न' सादृश्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हो रहा है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत जनता की बोलचाल की भाषा कभी न थी और आदि समाज में वर्गों के उपजने के पश्चात् भी जब यह बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही थी उसने कभी भाषा-सम्बन्धी स्वाधीनता प्राप्त नहीं की थी। संस्कृत भाषा तथा साहित्य के सर्वोच्च तत्त्वों का निर्माण जनता द्वारा हुआ यद्यपि साधिकार अल्पसंख्यकों ने उनका रूप बदलकर उनसे अपने अधिकारों का संरक्षण किया। इसलिए हिन्दी या किसी और आधुनिक भाषा का उद्गम वैदिक या उत्तरकालीन संस्कृत में नहीं समझना चाहिए। आधुनिक भारतीय भाषाएँ अवश्य ही वैदिक काल के गण-गोत्रों और कबीलों की भाषाओं से सम्बन्धित हैं। यद्यपि संस्कृत भाषा का जन्म और पालन-पोषण उन्हीं गण-भाषाओं से हुआ, किन्तु अपने कृत्रिम एवं वर्ग-स्वभाव के कारण उसमें समकालीन वास्तविक बोलचाल की भाषाओं का बिगड़ा हुआ रूप ही मिलता है।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय आर्य भाषाओं के मध्यकालीन रूप को जिसका समय लगभग ६०० ई० पू० से १००० ई० तक माना जाता है प्राकृत का सामान्य नाम दिया जाता है और इससे वे बीसियों भाषाएँ लक्षित हैं जिनके दक्षिण भारत में कांची से लेकर चीनी तुर्किस्तान में निया प्रदेश तक फैले हुए अवशेष आज भी प्राप्त हैं और जिनके प्रतिरूप और उल्लेख उस काल के धार्मिक एवं लौकिक साहित्य में मिलते हैं। भारत के भाषा सम्बन्धी इतिहास का डेढ़ सहस्राब्दी का यह 'मध्य-भारतीय-आर्य' काल बहुत ही अव्यवस्थित है। विभिन्न वैयाकरणों द्वारा एक ही भाषा का अलग-अलग वर्णन किया गया है और कहीं-कहीं विभिन्न काल की विभिन्न भाषाओं को एक ही नाम दे दिया गया है। प्राकृत की प्रतिष्ठित व्याख्या में पालि को इस वर्ग से अलग माना गया है, किन्तु कुछ लोग इसी से प्राकृत काल का प्रारम्भ मानते हैं। कभी अशुद्ध संस्कृत के कई भेद, जिसमें से कुछ का व्यवहार बौद्धों की महायान शाखा द्वारा उनकी 'मिश्रित संस्कृत' में किया गया है, इस वर्ग में सम्मिलित किये गए हैं और कभी अशोक के समय के शिलालेखों की तथा चीनी तुर्किस्तान में खोजी हुई निया प्राकृत इनसे अलग मानी जाती हैं। यद्यपि प्राकृत के कई भेद वास्तव में मिश्रित भाषाएँ मानी जाती हैं, "जो संस्कृत से कुछ ही कम बनावटी थीं" और जो अनेक उपजाति समूहों के विस्तृत भूखण्डों में फैली हुई थीं, तथापि ये उस काल की बोलचाल की भाषा के रूप में सामने रखी जाती हैं और आधुनिक भारतीय भाषाओं की पुरोगामी सिद्ध की जाती हैं। इस काल की भाषाएँ तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—पूर्वकाल की प्राकृत

१. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिग्विस्टिक स्पेकुलेशन ऑव हिन्दूज, कलकत्ता, वि० १९५५।

(पालि और प्राचीन मागधी—५०० ई० पू० से १०० ई०), मध्यकाल की प्राकृत (शौरसेनी, मागधी और उनके भेद—१०० ई० से ६०० ई०) और उत्तरकाल की प्राकृत (अपभ्रंश ६०० ई० से ११०० ई०)^१ । मध्यकाल की तथा परवर्तीकाल की प्राकृत या अपभ्रंश का सम्बन्ध माता एवं कन्या का

१. एस० एम० कतरे ने प्राकृत भाषाओं का निम्न वर्गीकरण किया है :

- (क) धार्मिक प्राकृत—पालि, दक्षिणी धर्मशास्त्रों और उनके बाद की कृतियों की भाषा । अर्धमागधी, जैन सूत्रों की प्राचीनतम भाषा तथा आरसा महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश जिसमें जैन साहित्य का वर्णनात्मक साहित्य प्रचुर मात्रा में है ।
- (ख) साहित्यिक प्राकृत—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पंशाची और अपभ्रंश तथा उनकी उपशाखाएँ ।
- (ग) नाटकीय प्राकृत—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और इनकी शाखाएँ, प्राचीन अर्धमागधी जो अश्वघोष के नाटकों में मिलती है तथा अल्पबोलियाँ, जैसे ढक्की और तक्की ।
- (घ) वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृत—इनके अन्तर्गत ५ या ६ बोलियाँ हैं जो संस्कृत नाटकों में और मध्य भारतीय-आर्य कथा साहित्य में मिलती हैं, जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पंशाची, कुल्क पंशाची और अपनी कई बोलियों के साथ अपभ्रंश । इस वर्ग में वे प्राकृत भी आती हैं जो काव्य या संगीत के लिए प्रयुक्त हुई हैं, जैसे भरत का नाट्यशास्त्र या गीतालंकार या नमिसाधु की रुद्रट के काव्यालंकार की टीका ।
- (च) भारतेतर प्राकृत—धम्मपद प्राकृत की भाषा जो खोतान में प्राप्त हुई और खरोष्ट्री लिपि में है; चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त लेखों की निया और खोतानी प्राकृत ।
- (छ) शिलालेखों की प्राकृत—अशोक काल और उसके बाद; यह ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपि में लिखी जाती थीं तथा समस्त भारत और लंका में पाई जाती हैं । इसके अन्तर्गत ताम्रपत्र और मुद्राएँ भी आती हैं ।
- (ज) जनप्रिय संस्कृत—हिन्दू, बौद्ध और जैन । इनमें कुछ ऐसे व्यवहार मिलते हैं जो शुद्ध और प्रतिष्ठित संस्कृत में अग्राह्य और अनुचित समझे जाते थे ।

(दे० प्राकृत लैंग्वेज एण्ड बेयर कन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन कलचर)

माना जाता है। दोनों अवस्थाओं की भाषाओं का सामान्यतः एक ही नाम है। उस काल के वैयाकरणों ने संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश का रक्त का सम्बन्ध स्थापित किया है और भारत की भाषाओं को मुख्यतः तीन अवस्थाओं यथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में बाँटा है। दण्डी, भामह और भोजराज ने इस त्रिवर्गीकरण को स्वीकार किया है।

आदि प्राकृत काल का समय मध्यदेश और पूर्वी भारत में दास अर्थ-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का था। यह दासत्व प्रथा भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम और अफ़ग़ानिस्तान में, जहाँ महाभारत युद्ध का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ा था, कुछ शताब्दियों तक अधिक कायम रही। भारत में दासों का प्रचलन अथवा दास-प्रथा का स्वरूप पश्चिम की सभ्यता के समान नहीं रहा।^१ पूर्व से मिला हुआ एक विशाल भूखण्ड था जहाँ दास और सामाजिक प्रतिष्ठा से गिरे वैश्य और शिल्पी भाग सकते थे।^२ इससे देश में दास-श्रम पर निर्माणित विस्तृत नागरिक जीवन का संवर्धन न हो सका था। दास अर्थ-व्यवस्था के क्रमशः भग्न हो जाने का काल, जिसका प्रभाव सब जगह

१. श्रीपाद अमृत डांगे अपनी पुस्तक 'भारत-आदिम साम्यवाद से दास-प्रथा तक का इतिहास' के हिन्दी संस्करण की भूमिका में लिखते हैं: "भारत में दास प्रथा प्रचलित थी—इस सम्बन्ध में कुछ आदर्शवादी हिन्दुओं को छोड़कर और कोई शंका नहीं उठाता। प्रश्न यह है, क्या रोम और यूनान की तरह यहाँ की आर्थिक व्यवस्था में भी उसका प्रमुख स्थान था? मैंने यह बताया है कि दास-प्रथा का स्वरूप यहाँ रोम और यूनान-जैसा ही निखरा हुआ नहीं था। इसके कई कारण हैं जिन्हें मैं संक्षेप में बता देना चाहता हूँ। मार्क्स ने भारत के ग्रामीण समाज में शिल्प और कृषि की एकरूपता का उल्लेख किया है। लेकिन स्पष्ट है कि इस एकरूपता का यह अर्थ नहीं है कि गाँवों में वर्ग बने ही नहीं और वर्ग-संघर्ष हुए ही नहीं और न जमीन का सामाजिक स्वामित्व ही दास-प्रथा और अर्ध-दास-प्रथा को रोक सका। पर कुछ लोग ऐसा नहीं सोचते। यथार्थ यह है कि भारतीय कृषि की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप यहाँ की दास-प्रथा की केवल कुछ अपनी विशेषताएँ थीं।"

२. वैदिक काल में प्रतिष्ठाप्राप्त वैश्यों का इस काल में पतन हो चुका था यह गीता के इस श्लोक से सिद्ध है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि याति परां गतिम् ॥ अ० ६, श्लो० ३२ ।

तीव्र मानसिक क्रियाशीलता के रूप में पड़ा, भारत के लिए तो और भी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जागरण का था। बुद्ध के पूर्व का उत्तरभारत उस अन्धकार-युग से बाहर आ रहा था जो महाभारत युद्ध और उसके बाद गंगा की घाटी में पश्चिम दक्षिण और पूर्व से नाग तथा अन्य अनार्य जातियों द्वारा विनाशकारी आक्रमणों से प्रारम्भ हुआ था। इसके कारण दासों, अप्रतिष्ठित आर्यों और अनार्य जातियों में जो विद्रोही भावना उठ खड़ी हुई थी वह कितनी प्रबल थी, उसका अनुमान अर्जुन के इस कथन से होता है कि नागलोगों के साथ युद्ध में जब वह अपने दैवी अस्त्र-शस्त्र लेने लगते तो वे उनके हाथ नहीं आते थे^१। भगवान् कृष्ण ने काशी को जलाकर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया था किन्तु द्वारका पर आक्रमण के समय वे कुछ भी न कर सके और वहाँ गृहयुद्ध की आग भभक उठी। जब शासक-वर्ग परस्पर मारकाट कर रहे थे या निषादों द्वारा उनका संहार किया जा रहा था, तो बेबस उन्होंने वहाँ के निवासियों को प्रभास चले जाने की आज्ञा दी।

जैसे-जैसे नगरों के छिदरने से वहाँ के लोग ग्रामीण क्षेत्रों की ओर जा रहे थे वैसे-वैसे कृषि-प्रथा बहुत तेजी से फैल रही थी और दासयुग के प्रौद्योगिक उपादान अधिक विस्तृत होते और जनता के निकट पहुँचते जा रहे थे। सत्ता का केन्द्र हस्तिनापुर से धातु-बाहुल्य बिहार में पहुँचने पर लोहे का व्यवहार, जो अब शस्त्रास्त्रों में कम हो रहा था, अधिक सामान्य हो गया था।^२ परन्तु सामन्तशाही की ओर अभिरुचि होने के कारण उत्पादी प्रविधियों की उन्नति में बाधा पड़ने लगी, जो कि भारत में दास अर्थ-व्यवस्था के पूर्णरूप से फलित न होने के कारण अभी पूरी तरह विकास को पहुँच न सकी थीं। जैसे-जैसे लाभ-दायक विज्ञान की अभिरुचि में कमी होती गई, जनता के प्रजीय प्रयास, सभ्यता की एक नवीन आकृति, संगठित धार्मिक विश्वासों की ओर उन्मुख होते गए।

यह काल परिव्राजकों के लिए, जो कि वर्ष के अधिक समय तक स्थान-स्थान पर विचरण करते रहते थे, उल्लेखनायक है। ये नीतिशास्त्र, तत्त्वज्ञान और प्रकृति सम्बन्धी विषयों पर वादविवाद किया करते थे।

१. जे० डी० बरनाल ने 'साइन्स इन हिस्टरी' में बतलाया है कि उस काल में अच्छा लोहा इतना मूल्यवान और दुष्प्राप्य था कि उसके अस्त्र-शस्त्र चामत्कारिक समझे जाते थे।
२. ए० एल० वाशम, 'दि वण्डर देंट वाज़ इन्डिया' में कहते हैं कि भारत में लोहे का स्रोत दक्षिण बिहार था और आधुनिक रांची के आस-पास लोहे के क्षेत्र के मार्ग पर नियन्त्रण मगध-शक्ति के उदय का प्रमुख कारण था।

इसमें ज्ञानोपाजन उतना ही लक्षित था जितना अपने विश्वासों और विचार-प्रणालियों का प्रचार। इन परिव्राजकों में मध्ययुगीन यूरोप के समान भिक्षा माँगते हुए विद्यार्थी और स्त्रियाँ भी होती थीं। इनके ठहरने और वादविवाद के लिए स्थानों का प्रबन्ध कर दिया जाता था। बस्तियों के निकट ही कुञ्जों में इनके लिए कुटीर, छीलतरियों और विश्रामस्थलों का निर्माण कर दिया गया था। ये परिव्राजक विद्वान् प्राचीनकाल के मुनि या ब्राह्मण नहीं थे और न अगले काल के वानप्रस्थी अथवा संन्यासी थे।^१ चिन्तन-स्वतन्त्रता उस समय बहुत थी जिसके कारण मतों और सिद्धान्तों के उद्भ्रान्त भेद हो रहे थे। एक ही से अभिमत रखने वाले लोग बहुधा संघों में संगठित हो जाते थे। बौद्धों का धार्मिक सम्प्रदाय साक्ष्यपुत्त समण और जैनों का, जो बुद्ध से प्राचीन था, निगंठ कहलाता था। ऐसे ही बीसियों संगठन और रहे होंगे जैसे आजीविक सम्प्रदाय जो सम्राट् अशोक के समय तक अत्यन्त विस्तृत था किन्तु बौद्धों और जैनों की भाँति, इनके प्रजीय क्रियाकलापों का अब पता नहीं मिलता है।

यह वह काल था जब प्राचीन लोक-कथाओं की परम्पराओं के आधार पर जनता द्वारा जातक कथाओं का निर्माण और समृद्धिकरण हो रहा था। बौद्धों द्वारा परिवर्तन के साथ इनका एक अल्प भाग आज हमें प्राप्त है। यही वह काल था जब जनता द्वारा अखान (अख्यान) के रूप में उस सामग्री का निर्माण किया गया जिसने बाद में विशाल महाभारत का रूप लिया। यही वह काल था जिसमें सूतों और चारणों ने वीरगाथाओं की रचना की और भूतकाल के गण-योद्धाओं के आदर्श चरित्रों का गुणगान किया, क्योंकि उस काल की कोई विजयगाथा ऐसी न थी जिसकी स्तुति की जाती। जनता के इस सांस्कृतिक धन से और उनके मुखारविन्द से भरे हुए इन रत्नों से ही बाद में वाल्मीकि रामायण की सामग्री उपलब्ध हुई। वर्ग-संघर्ष के तीव्र हो

१. ऋग्वेद में मुनि का ब्राह्मण से विभेद किया गया है और बृहदारण्यक में (४-४-२२) कहा है कि “ब्राह्मण वेदाध्ययन से, यज्ञ से, तप से, उपवास से, उसे जानने का प्रयत्न करते हैं और जो उसे जान लेता है, वह मुनि हो जाता है।” ब्राह्मण वह ऋग्वेदकालीन अनार्य अथवा अवैदिक आर्य अटन-शील पुरोहित थे जो बेलगाड़ियों में घूमते हुए धर्मकार्य करते थे। बुद्धोत्तर-काल में वानप्रस्थी—वन में रहने वाले भिक्षु, और संन्यासी—लिप्सामुक्त तपस्वी, नवयुवक भी हुआ करते थे जो पहले दो आश्रमों की उपेक्षा कर के वन में रहने या तप करने लग जाते थे।

जाने से, सूरस्तोम और देवमाला का स्थान जब अवितथ घर्म ने ले लिया और घर्म अपने मतों में विधिबद्ध हो गया, तब वैदिक निष्ठा के स्थान पर एक नई पौराणिक मनसृष्टि की रचना हुई, किन्तु अब इसमें वर्ग विभाजन किया गया था। इन परिकल्पनाओं में अधिकांशतः प्रज्ञीय स्वाधीनता और ज्ञान की पिपासा से उत्साहित थीं और इन्होंने ही आगे चलकर उपनिषदों और घर्म पुराणों के बीजरूप का कार्य किया।

संस्कृत में अनुदित होकर महाभारत, पुराणों आदि का मूलरूप बनने वाली जन्मजात आर्यों, मिश्रित आर्यों, तथा आर्यभूत अनार्यों में प्रचलित ऐतिहासिक गाथाओं, वीर काव्यों और लोकगीतों, तथा जनता की अन्य कृतियों की भाषा एक से दूसरे क्षेत्र तक ही भिन्न न थी किन्तु रचना की प्रकृति के अनुसार भी इनमें भेद थे। ये कृतियाँ बहुधा उस गण या उपजाति की भाषा में होती थीं जो उस क्षेत्र में प्रमुख स्थान रखता था तथा कई स्थानों पर अनेक उपजातियों की मिली-जुली बोली पर आधारित होती थी। परिव्राजकों के एक भाषा-क्षेत्र से दूसरे में भ्रमण करने के कारण एक सामान्य शब्दभण्डार और एक सामान्य सम्भाषणोत्तर भाषा का उद्भव अपरिहार्य था। अशोक-काल की मागधी सम्भवतः इसी प्रकार मागधी बोलियों का मिश्रण थी जो शिलालेखों के क्षेत्र के अनुसार परिवर्तित हो गई थी।^१ यह भाषा जिसे प्राचीन मागधी कहा जाता है प्राकृत व्याकरणों की परवर्ती-मागधी से कम कृत्रिम थी। इसने कई शिलालेखों की प्राकृत को व्याकरण का ढाँचा दिया और इसका पालि के शब्द-भण्डार में व्यापक प्रतिनिधित्व था। जैन ग्रंथों की भाषा अर्द्धमागधी का आधार भी यही प्राचीन मागधी या इसी तरह की कोशल और मगध की कुछ बोलियों के मिश्रण से बनी कोई भाषा होगी, अगरचे पाँचवीं शती ई० में जब वलभी, काठियावाड़, में इसके रूप को स्थिर किया गया तो वह बहुत कृत्रिम हो चुकी थी। आदि प्राकृतकाल की इन भाषाओं—अर्द्ध-मागधी, अशोककालीन मागधी और पालि—का कृत्रिम स्वरूप सामान्यतः स्वीकार किया जाता है और इसीलिए ये बाद की प्रतिष्ठित प्राकृतों में रखी नहीं जाती हैं, यद्यपि हम आगे देखेंगे कि आदि प्राकृत भाषाएँ मध्य-प्राकृत भाषाओं की तुलना में बोलचाल की भाषाओं के सन्निकट थीं।

धार्मिक और लौकिक साहित्य के माध्यम के रूप में पालि तीसरी

१. रिह्स डेबिड्स : “समस्त विषय का पूरा अध्ययन कर मि० सेनार्ट ने बिलखाया है कि ये शिलालेख न वर्णविन्यास में और न शब्दावली में किसी देशी भाषा का रूप देते हैं। (बुद्धिस्ट इण्डिया)

शताब्दी ई० पू० से ११वीं शताब्दी ई० तक रही। उसकी प्रारम्भिक अवस्था छन्दोबद्ध गाथाओं में उपलब्ध है जिसमें पालि 'सुत्तन्तो' के गद्यांश सम्मिश्रित हैं। उसके बाद अन्य निकायों और सुत्तों की गद्य की भाषा मिलती है और फिर आदि लौकिक कृतियों की गद्य, जैसे मिलिन्दपत्त, और गद्यभाष्य की भाषा इत्यादि। अन्त में काव्यकृतियों की भाषा आती है जो संस्कृत साहित्य में निर्देशित प्रतिरूपों और नमूनों के सन्निकट है।

बौद्धों की हीनयान शाखा की इस भाषा की आकृति सुस्पष्ट और एकसी नहीं है। इसके विपरीत अपने रचनाकाल की विभिन्न अवस्थाओं में उस पर उस समय की बहुत-सी बोलियों का प्रभाव पड़ा है यद्यपि भाषा-सम्बन्धी आकृति में उसका वर्णन 'मध्य इण्डो-आर्यन' अवस्था के प्राचीनतम प्रतिनिधि के रूप में किया जाता है।

पालि शब्द कहाँ से आया इसका सन्तोषप्रद उत्तर कहीं से प्राप्त नहीं होता है। भाषाशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ की हैं; कुछ लोग इसे संस्कृत पल्लि (बस्ती-नगर) से निकालते हैं, कुछ 'पलाश' से जो मगध का एक नाम है और कुछ मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से। कई इसे पंक्ति का एक विकृत रूप मानते हैं और कुछ-एक विद्वान् इसका मूल महात्मा पल्लव तक जा खोजते हैं। हाल ही में डॉ० मनमोहन घोष ने एक नया सुझाव दिया है कि पालि शब्द सम्राट् अशोक के भाबरू शिलालेख में धार्मिक शिक्षा के लिए प्रयुक्त '(धम्म) पालियानी' का परिवर्तित रूप है जो तीन-चार सौ वर्षों में संक्षिप्त होता-होता 'पालियानी' से 'पालिया' और 'पालि' बन गया।^१

पालि शब्द का सबसे पहला प्रयोग 'दीपवंस' में मिलता है जिस की रचना ३५२ ई० से ४५० ई० के बीच हुई मानी जाती है। यह भाषा मगध की थी या शौरसेन या अवन्ती की इसके बारे में भी मतभेद बने हुए हैं, क्योंकि इन तीनों क्षेत्रों की भाषाओं के तत्त्व न्यूनाधिक इस में खोजे जा सके हैं। भगवान् बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों ने यह प्रस्ताव किया था कि तथागत के उपदेशों को प्राचीन वैदिक भाषा 'छान्दस्' में अनूदित कर लिया जाय किन्तु बुद्ध का अनुरोध था कि समस्त जन उनके उपदेश को 'अपनी मातृभाषा' में ग्रहण करें। इससे कई बार यह स्थापित किया जाता है कि पालि बुद्ध-कालीन मगध की बोलचाल की भाषा थी। इसके समर्थन में यह तर्क भी दिया जाता है कि पालि तिपिटक (त्रिपिटक) की जिस भाषा को महाकच्चायन ने

१. डॉ० मनमोहन घोष : पालि शब्द का अर्थ, एक सुझाव—इण्डो-एशियन कलचर, अप्रैल १९५६।

नियमबद्ध किया, उसने व्याकरण में इसे मागधी और मूल भाषा कहा है। किन्तु इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि पालि के अतिरिक्त और कई भाषाओं में भी बुद्ध-वचनों का अस्तित्व था, जैसे 'लोयुन' (चीनी) लाघुन (मागधी) से सादृश्य रखता है राहुल (पालि) से नहीं। इससे प्रतीत होता है कि चीनी अनुवाद, पालि से न होकर किसी मागधी भाषा से ही हुआ। पालि ग्रन्थकारों ने भी पालि और मागधी को दो भिन्न भाषाएँ बतलाया है। कुछ ने तो यहाँ तक कहा है कि पालि, बुद्धों, बोधिसत्त्वों और देवताओं की भाषा है और मागधी मनुष्यों की। मागधी शब्द का पालि से विभिन्न व्यवहार बहुत पीछे तक बराबर होता रहा जैसे 'साहित्य दर्पणकार' में नाटकों के लिए यह नियम दिया है कि अन्तःपुरचारी लोग मागधी में बातचीत करते दिखाये जायें और चेट, राजपूत तथा वणिक लोग अर्द्धमागधी में।

पालि के अधिकतर विद्वानों का भी यही मत है कि यह बोलचाल की भाषा न होकर अनेक बोलचाल की भाषाओं के संश्लेषण से अस्तित्व में आई थी^१। एच० करण और मिनायेफ ने इसी मत का प्रतिपादन किया है। एच० कुह्न ने इस मत से सहमति प्रकट करते हुए यह कहा है कि पालि को एक कृत्रिम भाषा मान लेने से ही उसके उद्गम की समस्या हल नहीं हो जाती, क्योंकि एक कृत्रिम भाषा बहुत सी बोलियों से अपनी भाषा-वस्तु एकत्र करने पर भी किसी एक बोली-विशेष पर आधारित होती है; किन्तु इस बात पर कि कौन-सी बोली पालि का आधार बनी उन्होंने कोई सुनिश्चित मत प्रकट नहीं किया। पालि के शब्द-भण्डार और व्याकरण की दृष्टि से मगध की भाषा न होने पर भी, वी० वेयटी और कई अन्य विद्वान् श्रीलंका के परम्परागत मतानुसार उसे मगध की भाषा पर आधारित मानते हैं। रिह्स डेविड्स ने पालि को कोशल की भाषा माना है क्योंकि बुद्ध ने अपने को 'कौशल-व्यक्ति' कहा है। सम्राट् अशोक के गिनारि (गुजरात) के शिलालेख से क्योंकि पालि अपेक्षाकृत समीप है, इसलिए वैस्टरगार्ड, हु० कुह्ण, आर० ओ० फ्रैंक आदि उसे उज्जैन की भाषा मानते हैं, जहाँ की महिद की माता भी थी। स्टैन कोनऊ ने पालि और पैशाची में सादृश्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है और ग्रियर्सन ने पैशाची का आदिशूह भी उज्जैन ही माना है।

सम्भवतः पालि मथुरा और उज्जैन की बोलियों के मिश्रण से बनी होगी, जिसमें, मागधी बोलियों के अनेक शब्दों का समावेश हो गया था।

१. विस्तारपूर्वक विवरण के लिए देखिए, विलहल्म गेईगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, कलकत्ता यू०।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ५१

बुद्धकाल में यमुनातट पर स्थित 'मधुरा' के राजा को 'अवन्ती पुत्तो' कहा गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जैन के राजवंश की एक शाखा ने शौरसेन पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था, जिसकी राजधानी यह 'मधुरा' थी (आधुनिक मथुरा)। उस राज्य की राज्यभाषा के रूप में वहाँ यह भाषा उदित हुई होगी। मथुरा में भगवान् बुद्ध का आगमन हुआ था और यह उनके महान् प्रभावशाली शिष्य महाकच्चायन का निवासस्थान था, जिन्हें परम्परा के अनुसार पालि भाषा के प्रथम वैयाकरण का श्रेय प्राप्त है और इन्हीं के नाम से प्राचीनतम पालि व्याकरण का नाम लिया जाता है। सिलवियन लेवी और प्रो० हेनरिच लूडरस सरीखे प्रसिद्ध विद्वानों ने पर्याप्त साक्ष्य द्वारा निर्देशित किया है कि बुद्ध के प्रवचन सबसे प्रथम मगध की किसी बोली में रचित किये गए थे और पालि में उनका अनुवाद हुआ था। बाद में पालि अपने घर—मध्य देश—से निकाल दी गई, केवल विहारों और धर्मस्थानों की भाषा के रूप में रह गई और दक्षिण के कांचीपुर और तंजोर तक जा पहुँची। इसी प्रकार आदि जैन ग्रन्थों की भाषा अर्ध-मागधी ने काठियावाड़ स्थानान्तरण किया और वहाँ वलभी में इसका व्याकरण लिखा गया। आदि प्राकृत काल की इन भाषाओं के न्यूनाधिक कृत्रिम होने पर अब विद्वान् एकमत होते जा रहे हैं।

मध्य अथवा प्रतिष्ठित प्राकृतों का समय प्रथम शताब्दी ई० से प्रारम्भ होता है। वररुचि जो सबसे पहले प्राकृत वैयाकरणों में से था उज्जैन के विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक माना जाता है। संयोगवश उज्जैन का ही शाक्य वंश संस्कृत का व्यवहार करने वाला प्रथम महत्त्वपूर्ण राजकुल था। गिरनार के शिलालेख संस्कृत की प्राचीनतम उपलब्ध लिखित सामग्री है। जैसे सामन्तशाही विकसित होती गई और मौर्य-काल में अस्थायी प्रगतिरोध होने पर भी, सामन्ती भूदासता की वृद्धि और पुष्टीकरण हुआ वैसे ही जनभाषाओं पर आधारित साहित्यिक भाषाओं में भी परिवर्तन हुए और मध्य-प्राकृत भाषाओं में कृत्रिमता बढ़ती गई। इस तरह बोलचाल की और मृतभाषाओं के बीच की विचित्र बोलियाँ अस्तित्व में आईं जो कभी 'संकर संस्कृत' और कभी 'मिश्रित प्राकृत' कहलाती थीं।^१ बोलचाल की भाषाओं

१. यह मिश्रित अथवा संकर संस्कृत एक पूरी तरह विकसित भाषा थी न कि कम पढ़े पण्डितों की अशुद्ध या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत। इस कृत्रिम भाषा की अपनी स्पष्ट, यद्यपि सम्भाषणोत्तर, शब्दावली और व्याकरण था। इसका पूरा-पूरा विवरण अमरीका के पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय से प्रकाशित एफ० अजर्टन की 'बुद्धिस्ट हाईब्रिड संस्कृत ग्रामर एण्ड

से उत्पन्न साहित्यिक भाषाओं के प्रत्यय संस्कृतमय होने लगे, उनके शब्द विकृत किये जाने लगे ताकि वे अधिक पाण्डित्यपूर्ण लगने लगे। इस प्रकार साहित्यिक शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ जो नितान्त या अधिकतर कृत्रिम थीं और जिनका जीवित बोलियों में कोई अस्तित्व न था। जैसे-जैसे प्राकृत के लिए जनता की भाषाओं के सन्निकट होने की सुविधा जाती रही वैसे-वैसे संस्कृत का उसके स्थान पर साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन होना आसान होता गया। ये संकर भाषाएँ जितनी ही संस्कृत के समान होती गई, शासक-वर्ग को अपने अधिकार के समान अपनी इस भाषा का आरोपण करने में भी उतनी ही आसानी होती गई। इसी कारण हमें गुप्त शासनकाल में संस्कृत भाषा का अभूतपूर्व विकास मिलता है।^१

डिक्शनरी में उपलब्ध है।

१. रिह्स डेविड्स ने प्रथम सहस्राब्दी ई० के मध्य तक भारत की भाषाओं की निम्न सूची दी है—

- (१) भारत पर आक्रमण करने वाले आर्यों की बोलियाँ तथा द्राविड़ और कोलारियन की बोलियाँ।
- (२) प्राचीन उच्च-भारतीय वैदिक भाषा।
- (३) द्राविड़ों से बंवाहिक या राजनीतिक सम्बन्ध से प्रभावित आर्यों की बोलियाँ। ये हिमालय की तराई में कश्मीर से नेपाल तक, सिंधु घाटी तथा वहाँ से अवन्तिपुर या गंगा-यमुना की घाटी के पार तक की उनकी आबादियों में बोली जाती थीं।
- (४) द्वितीय उच्चभारतीय—ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा।
- (५) गांधार से मगध तक बौद्ध धर्म के उत्थान-काल की भाषाएँ। ये एक-दूसरी से इतनी भिन्न न थीं कि समझी न जा सकें।
- (६) कोशल की राजधानी सवत्थी की स्थानीय बोली पर आधारित एक परस्पर वार्तालाप की उपभाषा। इसका प्रचार कोशल अधिकारियों, व्यापारियों और सांस्कृतिक वर्गों में, समस्त कोशल राज्य में, दिल्ली से पटना तक और उत्तर में सवत्थी से दक्षिण में अवन्ती तक था।
- (७) मध्य उच्चभारतीय, पालि। उपर्युक्त नं० ६ पर आधारित साहित्यिक भाषा जो अवन्ती में बोले जाने वाले रूप में व्यवहृत होती थी।
- (८) अशोककालीन बोलियाँ। उपर्युक्त नं० ६ पर आधारित, विशेषकर पटना में बोली जाती थीं।
- (९) अर्धमागधी : जैन ग्रंथों की उपभाषा।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ५२

भाषा में परिवर्तन के साथ-साथ धर्म और सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन हो रहा था। भारतीय सामन्तवाद को, जो आर्थिक तथा सामरिक दृष्टि से हीन था, उस काल में, जब ईसा के जन्म से कुछ पूर्व और बाद की शताब्दी में उत्तर-पश्चिम से निरन्तर आक्रमणकारी प्रविष्ट हो रहे थे, बार-बार प्रगति-रोध भोगना पड़ा। पहले बैक्ट्रीया के ग्रीक आये जिन्होंने पंजाब में गणराज्यों की स्थापना की। तत्पश्चात् शाक्य आये जो मथुरा, मालवा और काठियावाड़ तक बस गये। फिर पहलव और उनके पीछे कुशन आए, यूएचिह की ६ चीनी उपजातियों में से एक थे जिन्होंने शाक्यों को भारत की ओर खदेड़ा था। मौर्य-साम्राज्य के बाद देश के पूर्व में भी अराजकता थी। कृषि तथा उत्पादन के अन्य साधनों में ह्रास होने के कारण उत्पादन में निरन्तर कमी होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इसके बटवारे और वितरण में और भी कठोरता और दमन बरता जाने लगा। शोषित वर्ग के बढ़ते हुए कष्टों का आभास इससे मिलता है कि इनके सहिष्णुता और साधुता से सहन करने पर आगामी जन्म में जिस सुन्दर जीवन की प्रतिज्ञा की गई थी वह क्रमशः मनोरम होता गया। अपने कई अन्तर्निहित दोषों के कारण भारतीय सामन्त-वाद में स्थायित्व का अभाव तो था ही, इस काल में उष्णदेशीय कृषि के लिए

(१०) लेना बोलियाँ : ये उपर्युक्त नं० ८ पर आधारित द्वितीय शताब्दी ई० पू० से आगे गुफा शिलालेखों में व्यवहृत होती थीं। उत्तरोत्तर नं० ११ के समान होती गईं और अन्ततः उसमें विलीन हो गईं।

(११) प्रामाणिक, उच्च भारतीय, संस्कृत। इसका रूप और शब्दकोश नं० ४ से विकसित हुआ, जिसे नं० ५ से ७ तक की भाषाओं के शब्दों से समृद्ध किया गया। परन्तु इन शब्दों को भी विकृत करके नं० ४ का-सा रूप दे दिया गया। यह बहुत काल तक पुरोहित-वर्ग की साहित्यिक भाषा रही। इसका व्यवहार शिलालेखों और मुद्राओं पर द्वितीय शताब्दी ई० से आरम्भ हुआ और यह चतुर्थ और पंचम शताब्दी से समस्त भारत की राष्ट्रभाषा हो गई।

(१२) भारत की देशी भाषाएँ—पाँचवी शताब्दी से आगे तक।

(१३) प्राकृत, इन देशी भाषाओं का साहित्यिक रूप, विशेषकर महाराष्ट्री। इसका विकास नं० ११ (संस्कृत) से न होकर नं० १२ से हुआ जो नं० ६ की अवरोज बोलियों का परवर्ती रूप थी। (देखिए, बुद्ध-कालीन भारत) इनमें केवल नं० १, ३, ५, १२ की भाषाएँ जनता की बोलचाल की भाषाएँ थीं।

अनिवार्य सिचाई के साधनों के अभाव के कारण उसके संकटों में और वृद्धि हो गई। आवश्यक स्थायित्व की पूर्ति के लिये वर्ण-व्यवस्था की जटिलताओं और संयुक्त परिवार का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु इससे भारत का अर्धसामन्तवाद और अधिक विरूपित हो गया। वर्ण-व्यवस्था ने इसमें सामन्ती सम्बन्धों के विकास के साथ-साथ दासत्व पर आधारित शोषण के आकार-प्रकार को सुदृढ़ कर दिया और संयुक्त-परिवार प्रथा ने बड़ी भूसम्पत्ति की सम्भावना कम कर दी जो यूरोप के सामन्तवाद की मुख्य विशेषता थी।

इन प्रवृत्तियों ने भारत को खण्डित ही नहीं किया किन्तु इसका परिणाम यह भी हुआ कि उत्पादी संसाधनों बहुत अवह्रास हो गया, जिससे भारत का पश्चिम से व्यापार खतम हो गया और बहुत-सा प्रौद्योगिक ज्ञान समाप्त हो गया। रासायनिक विशुद्ध लोहे का उत्पादन, (जिसका नमूना महरोली के लौह स्तम्भ में उपलब्ध है) और अशोकस्तम्भ, (जो प्रत्येक तोल में पचास टन और माप में चालीस फीट था) के प्रामाजर्न और परिवहन की तक्षणकला सामन्तशाही के प्रारम्भिक काल की थोड़ी सी प्रौद्योगिक क्रियाएँ हैं, जो उत्तर-गुप्तकाल में सामन्तवाद के कुरुपित हो जाने से समाप्त हो गईं। नीरो (देहांत ६६ ई०) के राज्य के बाद रोम-साम्राज्य के वित्तीय कष्टों का मुख्य कारण सुवर्ण का निकास था जो भारत से व्यापार के कारण होता रहा था।^१ इस प्रकार गुप्तकाल के बाद की सहस्राब्दी में पश्चिम से व्यापार बन्द हो जाने से भारत को कितनी हानि हुई यह इससे जाना जा सकता है कि यूरोप में सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर बढ़ने में जो प्रौद्योगिक क्रियाएँ सहायक हुईं वे उसके बाइजेंटियम^२ के व्यापार द्वारा चीन से आईं। मध्यएशिया अथवा दक्षिण साइबेरिया में आविष्कृत हुए भारी हल जिनमें आठ बेल जोते जाते थे और जिन्होंने मध्ययुगीन यूरोप की 'मैनर' संस्था के प्रौद्योगिक आधार उपलब्ध किए, भारत में नहीं आये। काठक-संहिता (१५/२) में चौबीस बैलों से खींचे जाने वाले हलों (सीर) का उल्लेख है किन्तु सामन्तकाल में इनका कहीं चिन्हमात्र भी नहीं। सामन्तशाही खेत और

१. दे० : ई० एच० वारिंगटन : कामर्स बिटवीन दि रोम एम्पायर एण्ड इण्डिया, केम्ब्रिज—१९२८।

२. 'बाइजेंटियम इन्टू यूरोप' में जंक लिण्डसे लिखते हैं—“मध्य एशिया और मध्य यूरोप का आधुनिक यूरोप के निर्माण में जो अंशदान है वह एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। हमें बाद के राजनीतिक भूगोल को अलग कर देखना चाहिए कि उन दिनों पश्चिमी यूरोप से अल्टाई पर्वत तक फैला हुआ एक क्षेत्र था।”

सड़कों के लिए घोड़े का युग था। भारत में घोड़ा सदा विलास-पशु रहा है और उसका आधुनिक कनपट्टा तथा नाल यद्यपि मध्यएशिया में आविष्कृत हुए थे किन्तु भारत में यह और स्थानों की अपेक्षा बहुत देरी से पहुँचे थे। भारत में 'ग्राम-पद्धति' के विकास के कारण उपजातियों और ग्राम समुदायों का पृथक्करण और ठोस हो गया। शिल्प और कृषि के योग से घटित यह ग्राम पद्धति विभिन्न प्रकार के धन्धों के स्वतन्त्र वर्ग-संगठनों और ग्राम मुखिया की संस्था पर आधारित थी। ग्राम मुखिया की संस्था यद्यपि इस अर्धसामन्ती प्रणाली में समा-मेलित थी किन्तु इसने सामन्तों-भूपतियों और उनकी असामियों-प्रजाओं के बीच सुनिश्चित पट्टे के सम्बन्धों के विकास में बाधा डाली। यूरोपीय सामन्तशाही का आधार इसी पर संस्थापित था।

उपरोक्त परिस्थितियों ने, यद्यपि उपजातीय भाषाओं का एक विशाल संविलयन असम्भव कर दिया, किन्तु यह श्रेणियों में संगठित व्यापारी-समुदायों की कृत्रिम वर्गभाषाओं का प्रादुर्भाव रोक न सकी। संस्कृत विद्वत्ता और विधि-विधान की भाषा के पद पर आसीन रही। मध्य प्राकृतों के व्याकरण तक संस्कृत में लिखे गए थे; सामान्यतः वे प्रशासन और व्यापार की भाषाएँ थीं। यह घटनावश न था कि व्यापारी वर्गों में बौद्ध और जैन धर्म प्रथम सहस्राब्दी के अन्त तक प्रचलित रहा, तथा पालि, अर्धमागधी और मागधी अपने उद्गम-स्थान से निर्वासित होने पर भी मध्य और दक्षिण भारत के व्यापारी समुदायों द्वारा पोषित होती रहीं। निरन्तर हिंसा और युद्ध द्वारा सबसे अधिक क्षति व्यापारी समुदायों को ही होती थी और ये धर्म हिंसा को प्रोत्साहन नहीं देते थे। यह भी घटनावश न था कि इस गुप्तोत्तर काल का एकमात्र विशाल साम्राज्य, यद्यपि वह प्रकृति में सामन्तशाही था, हर्ष का था, जिसे ह्वेन सांग ने वैश्य^१ कहा है। उस काल में मथुरा के आसपास के प्रदेश का नाम शौरसेन था। मध्य प्राकृत में सबसे महत्त्वपूर्ण शौरसेनी मथुरा तथा प्रतिवेशी नगरों के व्यापारी-सम्प्रदाय के प्रभाव से उद्भूत हुई। यमुना-तट के 'मथुरा' का बुद्ध के समय में केवल उल्लेख मात्र ही मिलता है, किन्तु मिलिन्दपत्त्रा में उसका वर्णन भारत के सर्वप्रसिद्ध स्थानों में किया गया है। यद्यपि शौरसेनी राज्य थोड़े समय तक ही आधुनिक लाहौर से आधुनिक

१. 'ह्वेन सांग' वाटर्स द्वारा अनुवादित। डॉ० भूपेन्द्रनाथदत्त ने एक नये खोजे हुए बौद्ध-ग्रंथ 'मंजुश्रीमूलकल्प' का हवाला दिया है जिसमें हर्ष को वैश्य कहा गया है और पश्चिमी बंगाल के ब्राह्मण राजा से उसके युद्धों का वर्णन है। (स्टडीज इन इन्डियन सोशल पॉलिटि)

इलाहाबाद तक रहा, किन्तु वर्गों में संगठित वैश्यों की महत्ता मथुरा और उत्तर भारत के अन्य नगरों में बनी रही। बाद में हर्ष ने, जो स्वयं वैश्य था, गुप्तकाल के वैभव को पुनर्जीवित कर शौरसेनी प्राकृत को नवीन प्रोत्साहन दिया। शौरसेनी को अपने अपभ्रंश रूप में पुनः प्रोत्साहन तब मिला जब निम्नवर्ग के गुर्जर-प्रतिहारों ने शौरसेनी क्षेत्र के कान्यकुब्ज में अपना राज्य स्थापित किया। उन्होंने व्यापार को प्रोत्साहन दिया और सिचाई के विशाल साधनों के निर्माण से समृद्धि प्रदान की। उनमें से एक भोपाल का ताल था जिसका क्षेत्रफल २५० वर्गमील था, जिसे बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया था। किन्तु आज भी भारत के सिचाई के साधनों में वह सर्वोत्तम है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत की उपस्थिति पर बेकार जोर दिया गया है और यह इस बात का प्रमाण माना जाता है कि प्राकृत बोलचाल की भाषा थी। यथार्थ में नाटकीय प्राकृतें इस बात का पुष्ट प्रमाण हैं कि ये भाषाएँ आम बोलचाल की न होकर विभिन्न श्रेणियों तथा वर्गों की कृत्रिम भाषाएँ थीं। अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास आदि, विभिन्न प्रदेशों के लोगों के लिए नहीं, विविध श्रेणियों तथा वर्गों के लिए विविध प्राकृतों का व्यवहार करते थे। 'मृच्छकटिक' के अनुसार विदूषक प्राच्य का प्रयोग करता है, वीरक आवन्ती का और स्थावरक, कुम्भीलक, वर्धमानक आदि मागधी का। 'शकुन्तला' में मछुए, पुलिस कर्मचारी और सर्वदमन मागधी का प्रयोग करते हैं। संस्कृत नाटकों में मागधी कई रूपों में उपलब्ध है। शाकारी, शाबरी, चाण्डाली आदि श्रेणी-भाषाएँ मागधी का ही विकृत रूप मानी जाती हैं और शौरसेनी महिलाओं, शिशुओं, नपुंसकों और ज्योतिषियों आदि की भाषा है। नाटकों में अधिकतर प्राकृत भाषी पात्र निम्न वर्ग के नहीं, वरन् धनी और प्रतापी श्रेष्ठी हैं और ये पात्र साहित्यिक प्राकृत बोलते हैं, बोलचाल की भाषा नहीं। "उस काल में जब नाटक लिखे गये थे सब लोग साधारण दैनिक जीवन में न संस्कृत बोलते थे न प्राकृत, किन्तु देशी भाषा बोलते थे।"^१ डॉ० सु० कु० चटर्जी^२ ने भी इस तथ्य पर जोर दिया है कि "अधिकांश प्राकृतों की साहित्यिक आकृति के कृत्रिम स्वरूप को ध्यान में रखना होगा।" इनमें सबसे महत्वपूर्ण शौरसेनी है "जो संस्कृत से अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अधिक सादृश्य रखती है।"^३ महाराष्ट्री को अब शौरसेनी प्राकृत के ही एक रूप में महाराष्ट्र की नहीं किन्तु गंगा-यमुना दोआब के विशाल

१. रिह्स डेविड्स—'बुद्धिस्ट इण्डिया'

२. सु० कु० चटर्जी—'इण्डो-आर्यन एण्ड हिन्दी'

३. प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती—'लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन ऑव दि हिन्दूज'

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ५७

राज्य की भाषा स्वीकार किया गया है।^१ वास्तव में शौरसेनी और महाराष्ट्री विभिन्न लोगों द्वारा व्यवहार में लाई गई भाषाएँ नहीं थीं किन्तु विभिन्न रचनाओं के लिए थीं—महाराष्ट्री पद्य के लिए और शौरसेनी गद्य के लिए। मध्य प्राकृतों की भाषाओं के संकर रूप और उनके भेद यह प्रमाणित करते हैं कि वे बोलचाल की भाषाएँ न थीं। संस्कृत व्याकरण के रूपों का उनमें समावेश उनके कृत्रिम स्वभाव को प्रकट करता है^२।

इस प्रकार प्राकृत भाषाएँ जो अपने आदिकाल में, जब वे बुद्ध और जैन-धर्मों के साथ अस्तित्व में आईं, आम बोलचाल की भाषाएँ न होने पर भी उनके बहुत सन्निकट थीं। किन्तु यह नैकट्य क्रमशः कम होता गया और वे जन-भाषाओं से दूर हटती-हटती धीरे-धीरे प्रामाणिक संस्कृत से कृत्रिम बन गईं। उसी काल में संस्कृत रामायण और महाभारत का आधुनिक रूप में सम्पादन हुआ था और उनकी मध्य प्राकृत की किसी भी कृति से अधिक लोकप्रियता उस काल की प्राकृतों के संस्कृत तुल्य कृत्रिम और सीमित समुदाय की भाषा होने का प्रमाण है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिलालेख्य प्रमाण उस काल की भाषा-सम्बन्धी स्थिति का बहुत एकपक्षीय चित्र प्रस्तुत करते हैं।

प्राकृतों का तीसरा वर्ग अपभ्रंश है जिसके बारे में ऐसा विश्वास है कि भारतीय-आर्य भाषाओं के विकास में उसकी अवस्था उत्तरमध्य भारतीय-आर्य और नवीन भारतीय-आर्य के बीच में है। आर्य बोलियों में यह परिवर्तन छठी और बारहवीं शताब्दी ईस्वी के बीच में हुआ माना जाता है। अपभ्रंश से उस साहित्यिक भाषा से तात्पर्य है जिसमें ५०० ई० से १२०० ई० तक काव्यरचना हुई और जिसे अपभ्रंश-लेखकों ने स्वयं तथा प्राकृत व्याकरणों ने अपभ्रंश का नाम दिया है। अपभ्रंश भाषा में बहुत से भेद थे और मार्कण्डेय ने अपनी मुख्य अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश कहा है। वे इसे स्पष्ट रूप से पच्छिमी भारत

१. एस० ए० डांगे का निम्न कथन ठीक नहीं प्रतीत होता : “(आधुनिक) महाराष्ट्री का अस्तित्व बोली के रूप में बुद्धकाल (छठी शताब्दी ई० पू०) तक खोजा जा सकता है। उसका व्याकरण २०० ई० पू० में लिखा गया था। उसे शातवाहनों ने स्वीकार कर राजभाषा बनाया और शताब्दियों के विकास के बाद वह महाराष्ट्री भाषा बनी” (नोट्स आन मेडिवियल मराठी लिटरेचर-इण्डियन लिटरेचर नं० २, १९५२)। डा० वूलनर ने “इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत” में स्थापित किया है कि महाराष्ट्री प्राकृत, महाराष्ट्र की भाषा का नाम न होकर, केवल शौरसेन (मध्य देश) की भाषा के लिए स्तुतिमय पद था।
२. देखिए प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती : लिग्विस्टिक स्पेकुलेशन ऑव दी हिन्दूज़।”

की प्राकृतों महाराष्ट्री और शौरसेनी के साथ गिनते हैं ।

जी० ए० ग्रिवर्सन ने सर्वप्रथम इस विचार को प्रस्तुत किया था कि उत्तरी भारत की भाषाएँ अपभ्रंश भाषाओं से निकली हैं । उन्होंने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया' के प्रस्तावना-खण्ड में यह स्थापित करना चाहा है कि प्रत्येक नवीन भारतीय-आर्य बोली की पूर्ववर्ती एक कल्पित अपभ्रंश थी । यद्यपि इस धारणा को परवर्ती लेखकों ने ग्रहण किया है फिर भी अब तक खोजे हुए लेख्य-प्रमाण से इसकी पुष्टि नहीं होती । बहुत थोड़े लेखकों ने इस बात का विवेचन किया है कि जिस अपभ्रंश को पूर्व वैयाकरणों ने उत्तर-पश्चिम में आभीरों की भाषा कहा है वह बाद में जैन लेखकों द्वारा गुजरात, राजस्थान और दक्षिण भारत में साहित्यिक रचना की भाषा कैसे हो गई ।

अपभ्रंश साहित्य के विकास-क्रम का, उसके स्थान-काल-अन्वय द्वारा अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि आधुनिक उत्तरी भारतीय भाषाओं की पूर्वज परम्परा का किसी भी ऐसी अपभ्रंश भाषा में, जो उत्तर भारत के सम्पूर्ण या अधिकांश भूभाग में बोली जाती हो, ढूँढ़ना भूल होगी । अपभ्रंश इस तथ्य का प्रतिबिम्ब है कि प्रथम सहस्राब्दी ई० के द्वितीय अर्धक में जनता की बोलचाल की भाषाओं में क्या परिवर्तन हुए थे । अपभ्रंश कई संभाषणोत्तर भाषाओं का सामान्य नाम था जो आभीरों और सम्बन्धित कबीलों की बोलियों, तथा उत्तरी, पच्छिमी और मध्यभारत की उन उपजातियों की भाषाओं के मिश्रण के परिणामतः बनी थीं जिनपर उन्होंने शासन किया ।

अपभ्रंश का पहला वास्तविक निर्देशन हमें भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' (३३० ई०) में मिलता है, जिसमें उसे संस्कृत और देशी से पृथक् विभ्रष्ट भाषा तथा 'आभीरादिगिरः' कहा गया है । इस प्रकार भरत ने अपभ्रंश का निर्देशन बर्बरी भाषा की स्थिति में किया है जिसे यायावर लोग बोलते थे, जो गाय-बैल, भेड़-बकरी, घोड़े और ऊँट पालते थे (भ० १७, ४७, ४८, ५५) । तीन शताब्दियों के बाद अपभ्रंश ने साहित्यिक भाषा की स्थिति प्राप्त कर ली थी और भामह ने अपभ्रंश को कविता की भाषा के रूप में माना है (काव्यालंकार १, १६, २६) । अपभ्रंश का यह साहित्यिक पद काठियावाड़ में प्राप्त वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र से पुष्ट होता है । अपने प्राकृत व्याकरण में कणाद द्वारा अपभ्रंश की स्वीकृति इसी निष्कर्ष की ओर संकेत करती है । नवीं शताब्दी में रुद्रट ने अपभ्रंश को प्रान्तीय बोलियों के लिए, जिनकी संख्या बहुत थी, सामान्य पद के रूप में माना है । दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने इसे संस्कृत और पालि के समान साहित्यिक भाषा के रूप में निरूपित किया और इसका विस्तार-क्षेत्र

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ५६

सकल मरुभूमि, टक्क और भदानक बताया है। ११वीं शताब्दी में एक पूर्वी बौद्ध प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने, अपभ्रंश को शिष्टजनों की भाषा कहा है और अपभ्रंश की विशिष्टता के लिए सुसंस्कृत लोगों के व्यवहार का निर्देशन किया है। एक अन्य टीकाकार सिंहदेव ने वाग्भट के 'वाग्भटालंकार' की टीका में इन अपभ्रंश बोलियों का स्थान-निर्धारण द्राविड़ प्रदेशों में किया है।^१ १७वीं शताब्दी में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेद गिनाए हैं।

अपभ्रंश की प्रकृति और स्थिति के बारे में उपरोक्त परिवर्तन कोई उलझन पैदा नहीं करेंगे, यदि हम उसकी वृद्धि और विकास सम्बन्धी अध्ययन आभीरों के इतिहास के साथ करें। महाभारत के अनुसार, जिसमें आभीरों का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, ये उपजातियाँ पंचनद में रहती थीं। इसवी संवत् के प्रारम्भ होने के समग्र, उत्तर-पश्चिम की ओर से निरन्तर आक्रमणों के दबाव के कारण वे गुजरात, काठियावाड़ और प्रतिवेशी क्षेत्रों में चली गयीं। इसकी पुष्टि काठियावाड़ में प्राप्त १८१ ई० की राजाज्ञा से होती है जिसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति का उल्लेख है। नासिक में प्राप्त ३०० ई० के एक शिलालेख में आभीर राजा ईश्वरसेन की ओर संकेत है। इलाहाबाद में समुद्रगुप्त के लौहस्तम्भ के एक लेख (३६० ई०) से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक आभीरों का प्रभुत्व मालवा और राजस्थान में हो गया था और वे भांसी तक फैले हुए थे। इन उपजातियों में से कुछ पूर्व और दक्षिण तक पहुँच गई थीं। मिर्जापुर में अहरोरा नाम से आभीरों का प्रभाव प्रतीत होता है तथा ताप्ती से लेकर देवगढ़ के क्षेत्र का नाम भी इन्हीं का दिया हुआ है। खानदेश में भी आभीरों की बस्तियाँ थी जहाँ उन्होंने अपने गोत्रसंघ स्थापित किए थे। ऐसा लगता है कि कालान्तर में शाक्यों और गुर्जरो का मिश्रण आभीरों में हो गया। राजस्थान की पिछली उपजातियों को तितर-बितर करके उनके स्थानों में बसने के बाद हूण भी उनमें मिल-जुल गये। इन उपजातियों ने मध्ययुग के कुछ महान् शक्तिशाली राज्यवंशों को जन्म दिया। आधुनिक राजपूत उपजातियों और गोत्रों में से बहुत से इन्हीं में से उद्भूत हुए हैं। हिन्दू समाज को दुर्भेद्य वर्ण-व्यवस्था में पाकर और उसमें अपना स्थान न बना सकने के कारण इन उपजातियों ने जैन-धर्म स्वीकार कर लिया और जैन साधुओं तथा जैन विद्वानों को राजाश्रय दिया। सातवीं शताब्दी के बाद जब इन सामन्तशाही रजवाड़ों का प्रभुत्व और महत्त्व बढ़ा तब इनकी राजदरबार की भाषा, जो स्थानीय बोलचाल की भाषा से आभीर और गुर्जर बोलियों के मिश्रण

१. देखिए, जी० बी० टेगोर : हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश।

से बनी थी, साहित्यिक भाषा में विकसित होने लगी।

इस अपभ्रंश भाषा को और प्रोत्साहन तब मिला, जब मिहिरभोज और महेन्द्रगल के गुर्जर प्रतिहार राज्य ने गुप्त और हर्ष साम्राज्यों के यश को पुनर्जीवित किया। उनकी राजधानी कन्नौज होने पर भी उनके दरबार की भाषा में गुजराती और राजस्थानी तत्त्व बने रहे। जितनी भी अपभ्रंश कृतियाँ प्रकाश में आई हैं वे सब इसी 'जैन-गुर्जर अपभ्रंश' में हैं।^१ ग्रियर्सन ने इस शती के प्रारम्भ में आधुनिक हिन्दी का उद्गम शौरसेनी अपभ्रंश के विपटन से किया है; किन्तु उसके बाद बीसियों अपभ्रंश ग्रन्थ खोजे जा चुके हैं और उनमें से किसी की भी भाषा ऐसी नहीं है जो खड़ी बोली हिन्दी का पूर्वरूप कही जा सके। इस सम्बन्ध में श्री शिवप्रसादसिंह लिखते हैं^२ : "अपभ्रंश भाषा की विपुल सामग्री के प्रकाश में आ जाने के कारण, नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन की एक विस्तृत कड़ी का सन्धान हुआ है, किन्तु अभाग्यवश इस पुष्कल सामग्री का अधिकांश, हिन्दी के अध्ययन की दृष्टि से अवान्तर महत्त्व की वस्तु है। ऐसा तो नहीं है कि इनसे हिन्दी के विकास-क्रम को समझने में कोई सहायता मिल ही नहीं सकती। परन्तु इनमें से कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिसे आप हिन्दी की आरम्भिक रचना कह सकें"। केवल एक ऐसी अपभ्रंश कृति की खोज की जा सकी है जिसका पश्चिमी हिन्दी की बोली से कोई सम्बन्ध ढूँढा जा सकता है और वह प्राकृत पंगलम् है जिसमें पुरानी वज्र के तत्त्व हैं।^३ उस काल की चौमूह सयंभू द्वारा रचित 'प्राचीनतम उपलब्ध हिन्दी रामायण' में अपभ्रंश-कालीन अवधी के ही कुछ तत्त्व हैं, यदि वह किसी एक ही भाषा में मानी जा सके।

अपने प्राचीन रूप में खड़ी बोली भी उस काल में अन्य भाषाओं और बोलियों के साथ अस्तित्व में थी। यदि खड़ी बोली के अपभ्रंश रूप की कोई कृति उपलब्ध नहीं है तो उसका कारण यह है कि उस काल में खड़ी बोली किसी राज्य की दरबारी भाषा नहीं थी। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ये अपभ्रंश सर्वसाधारण में व्यवहृत आम बोलचाल की भाषाएँ नहीं थी किन्तु केवल वर्गभाषाएँ थीं जो भिन्न भिन्न दरबारों में उत्पन्न हुईं। बारहवीं शताब्दी में थोड़े काल के लिए तोमरों के अधीन दिल्ली और उसके आसपास

१. पुरातत्त्व विभाग द्वारा कन्नौज में की गई खुदाई में जैनियों की गुर्जर प्रतिहार वंश के समय की बहुत सी प्राचीन वस्तुएँ मिली हैं।

२. शिवप्रसादसिंह : प्राकृत पंगलम् में प्राचीन वज्र के तत्त्व — कल्पना, हैदराबाद सितम्बर १९५५।

३. वही।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ६१

के क्षेत्र में ऐसा एक राज्य था, किन्तु पालम बावली (१२८० ई०) के शिलालेख की भाषा, जिसमें तोमर तथा बाद के 'शाक्य' राजाओं 'साहावादीना' (शाहाबुद्दीन) 'खुदुवादीना' (कुतुबुद्दीन) और 'असामासादीना' (शम्सुद्दीन) के राज्यों का उल्लेख मिलता है, पुरानी खड़ी बोली की अपेक्षा पुरानी बांगड़ू (गुड़गाँव की हरियानवी) के अधिक सन्निकट है।

आभीर और गुर्जर राज्यों के ह्रास के समय में भी व्यापारी वर्गों और समुदायों ने अपभ्रंश को ही अपनाया। हेमचन्द्र तथा अन्य वैयाकरणों ने इस भाषा को बोलचाल की भाषा से भिन्न माना है। दक्षिण और मध्यभारत के व्यापारी समुदाय इन शताब्दियों में जैन-धर्म में आस्था बनाये रहे। उत्तर भारत की अपेक्षा इन प्रदेशों में कम गड़बड़ी रही थी। इसलिए कृषि और कलाकौशल में स्थायित्व बना रहा और इन प्रदेशों में व्यापार में खूब उन्नति हुई। यूरोपीय यात्री पाइस ने उस समय के विजयनगर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसकी जनसंख्या रोम से अधिक थी और उसमें एक लाख घर थे^१। व्यापारी निगमों ने दक्षिण में प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। इन व्यापारी समुदायों के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण जैन-गुर्जर अपभ्रंश फल-फूलकर दिगम्बर जैनियों की महान् साहित्यिक भाषा बन गई, और शिष्ट समुदाय द्वारा भी अपना ली गई।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जितना भी अपभ्रंश साहित्य, प्रकाशित या अप्रकाशित, उपलब्ध है उसमें उस काल में बोली जाने वाली भाषाओं की मुख्य विशिष्टताओं के सार तत्त्व मौजूद हैं, किन्तु यह भी निर्विवाद है कि ये अपभ्रंश उस समय की जनता की वास्तविक बोलचाल की भाषाएँ न थीं और पहले की प्राकृतों के समान, अगरचे उनसे कुछ कम, कृत्रिम भाषाएँ थीं। जब तक अपभ्रंश पद को साहित्यिक भाषाओं की बजाय केवल मध्य भारतीय-आर्य भाषाओं की कल्पित तीसरी अवस्था पर लागू न किया जाय, जिसके लेख्य-प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का उद्गम इन के विघटन से हुआ है। निस्सन्देह उस काल की बोलचाल की भाषाओं की छाप उन साहित्यिक अपभ्रंश भाषाओं पर स्पष्ट है। किन्तु इन सम्भाषणोत्तर वर्ग-भाषाओं से बाद की ग्राम बोलचाल की भाषाएँ उत्पन्न हुई हों, ऐसा तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

जनसाधारण एक महान् शक्ति है जो समस्त भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का निर्माण करती है। जनता की निर्माण-प्रतिभा अद्वितीय है और वह

१. आर० स एल : ए फारगोटन एम्पायर।

ही साहित्यिक और सांस्कृतिक कृतियों की तथा भाषाओं की भी, वास्तविक निर्माणकर्त्ता है जिनमें ये सांस्कृतिक परम्पराएँ सीप में मोती के समान सुरक्षित हैं। जनता ही ने जीवित बोलचाल की भाषाओं के इस प्रवाह को चिर-स्थायी रखा जिसमें विकास-क्रम की असंख्य प्रवृत्तियाँ निरन्तर चलती रहीं। यद्यपि इस मुख्य प्रवाह से पृथक् हुई कृत्रिम भाषाओं को अलग से तीन या चार स्पष्ट अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है, किन्तु जीवित भाषाओं का ऐसा विभाजन नहीं किया जा सकता; क्योंकि निरन्तर परिवर्तित होते रहने पर भी उनकी एक अवस्था और आगामी अवस्था में कभी भिन्नता प्रतीत नहीं होती।

कबीर ने कुछ शताब्दियों के बाद कहा था कि संस्कृत कूपजल है और बोलचाल की भाषा बहते हुए नीर के समान है। इन बोलचाल की भाषाओं से ही, जो उस काल तक उपजातियों और नवजात जातियों और क्षुद्र राष्ट्रों तक सीमित रही हैं और जो सदा स्वपोषित और स्वगतिशील होकर अपने क्षेत्र में ही अलग-अलग बहती रही हैं, हमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की पूर्वजपरम्परा की खोज करनी होगी। यह कृत्रिम साहित्यिक भाषाओं द्वारा नहीं हो सकेगा जो अपनी वृद्धि में उतनी ही परजीवी थीं जितना कि वह वर्ग जिसने उनका निर्माण किया था।

हिन्दी के आदिकाल से पहले की भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति

अपभ्रंश भाषाओं के बाद हम उस काल में आते हैं जब आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रारम्भ माना जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसी काल में पहली सहस्राब्दी के फ़ौरन बाद शौरसेनी अपभ्रंश के विपाटन के फलस्वरूप, पंजाबी, गुजराती, मराठी इत्यादि के साथ-साथ हिन्दी भी अस्तित्व में आई। इस आदिकालीन-हिन्दी के आकस्मिक प्रकट होने का कोई कारण नहीं दिया जाता, केवल यही कहा जाता है कि भारत में इस्लाम के प्रभाव के परिणामस्वरूप आदिकालीन-हिन्दी के भक्ति-काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह महान् मानवतावादी आन्दोलन, जो सामान्यतया भक्तिमार्गी कहा जाता है, भारतीय मनीषा और चिन्तन के ग्रन्थकार में अकस्मात्, ग्रियर्सन के शब्दों में, विद्युत् की चमक के समान आया। कुछ लोगों ने किसी कारण के प्रस्तुत किये बिना ही यह धारणा प्रकट की है कि भक्ति आन्दोलन दक्षिण से उत्तर में आया। आम तौर पर यह ग्रहण नहीं किया जाता कि इस आन्दोलन में दो ऐसी भारतीय विचारधाराओं का संगम हुआ था जो लगभग एक सहस्राब्दी से समानान्तर चली आ रही थीं।

प्राकृतों और अपभ्रंशों के न्यूनाधिक कृत्रिम स्वभाव पर ऊपर विमर्श किया जा चुका है और यह भी बताया जा चुका है कि एक विशाल अशिक्षित जनसमुदाय की साधारण बोलचाल की भाषा की उत्पत्ति कठिन कृत्रिम भाषाओं से नहीं हुई जिन्हें न उनके पूर्वज जानते थे और न बोल ही सकते थे। हमने यह भी देखा कि कई कृत्रिम भाषाओं के उत्थान और पतन के साथ-साथ, आज की बोलचाल की भाषाएँ जनता की जबान पर बसी रही हैं। उस काल में बोलचाल की भाषाओं के सरलीकरण की क्रमिक प्रवृत्तियाँ, जीवन के अनेक विभागों में श्रम-साधनों के सरल होने के साथ-साथ निरन्तर विकसित होती रहीं; उप-

जातियों और नवोदित जातियों और क्षुद्र राष्ट्रों की विभिन्न बोलचाल की भाषाओं में विभक्ति और प्रत्ययों का क्रमिक लोप और संश्लेषण से विश्लेषण की ओर निरन्तर वृद्धि एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गई थी, जब हमारी आज की भाषाओं से उनका वैभिन्य अधिक न था। कई जटिल परिवर्तन और विकास, परशब्दग्रहण और अनुवर्तन, जिन्होंने हमारी भाषाओं के निर्माण में अंशदान दिया है, उस समय तक, यदि पूर्णतः नहीं तो मुख्यतः, निष्पादित किये जा चुके थे; और इन्होंने बहुत-कुछ विभक्ति और प्रत्यय का वह अनोखापन ग्रहण कर लिया था जिसके द्वारा हम अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार कर चुके हैं, जो हमारे पूर्वजों के लिए कठिन था। किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओं को उद्गमन के लिए व्यापार-सम्बन्धी अर्थव्यवस्था के विस्तार और उपजातियों और क्षुद्र राष्ट्रों में बड़े पैमाने पर परस्पर-व्यापार द्वारा एक राष्ट्रीय बाजार के विकास की प्रतीक्षा करनी थी। इस प्रकार ही उस काल की बोलचाल की भाषाएँ विकसित और संरोहित होकर आज की राष्ट्रीय भाषाएँ बन सकती थीं। इसलिए आदिकालीन-हिन्दी से पहले की भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति का अध्ययन, उस काल की साहित्यिक भाषाओं की प्रकृति के उचित मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। इसके बिना यह स्पष्ट नहीं होता कि आधुनिक हिन्दी भाषा का प्रारम्भ उनसे हुआ, या वे केवल वैसी ही सम्भाषणोत्तर कृत्रिम भाषाएँ थीं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

इस्लाम के आक्रमण से ईरान की तरह प्राचीन भारतीय संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुई। परन्तु वह रूढ़िप्रधान परम्परा की बद्ध-परिधि में संकुचित होकर रह गई। मुसलमानों का भारत के समाज पर उत्पादन-साधनों की दृष्टि से किंचित् फलप्रद प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा उनके द्वारा यूरोप में हुआ जब स्पेन पर अधिकार हो जाने पर उन्होंने वहाँ वैज्ञानिक ज्ञान का संचार किया। भारत में विभिन्न वर्गों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा था, यद्यपि इसका अल्प प्रमाण ही कई अहिन्दू और हिन्दू सम्प्रदायों एवं मतों के साहित्य में उपलब्ध है। मुसलमानों ने क्षत्रियों और अन्य राज्यवंशों के प्रभाव को नष्ट कर दिया और इस प्रकार उन्होंने जनता पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व और अधिकार को बढ़ाने में सहायता दी। इससे वर्ण-प्रतिबन्धन और विस्तृत हो गया तथा उसके व्यवहार में उत्तरोत्तर कठोरता आती गई। इस प्रकार समस्त अमुस्लिम भारतीय समाज ब्राह्मणों के प्रभाव-क्षेत्र में चला गया।

यह सोचना गलत है कि भारत में मुसलमानों के आने से पूर्व इस महाद्वीप की समस्त जनसंख्या ब्राह्मण धर्मानुयायी थी। उपलब्ध साहित्य

के आधार पर यह बहुत-कुछ निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत के लोगों की एक बड़ी संख्या, प्रथम सहस्राब्दी ई० तक उस धर्म में विश्वास नहीं करती थी जिसे आजकल हिन्दूधर्म कहा जाता है ।^१

समाज का सामन्ती पुनर्गठन उपयोगी विज्ञानों को अनावश्यक बना देता है । भारत में तो इससे वैज्ञानिक विचार बिलकुल जड़ हो गए । इसका कारण वह सांस्कृतिक अधिसंरचना (ऊपरी ढाँचा) थी जो हमारी विशिष्ट प्रकृति की नींव पर विकसित हुई । भारतीय सामन्ती समाज के कुछ दोष और विशिष्टताएँ पिछले अध्यायों में बताई जा चुकी हैं । इस अधिसंरचना का एक तत्त्व, जिसने आधार को सबसे अधिक प्रभावित किया, वर्ण-व्यवस्था का जटिल सामाजिक विधान था जिसकी वृद्धि होती गई और जो निरन्तर कठोर और अपरिवर्तनशील होता गया । इसका वास्तविक उद्गम दास युग के वर्णों से नहीं, किन्तु उपजातीय संश्लेषण तथा विभिन्न धन्धों के व्यावसायिक संगठनों द्वारा हुआ था जिनका विस्तार ईसा सम्बत के कुछ पहले से नई दस्त-कारियों और कलाओं के विकास और नवीन जातीय वर्गों के भारतागमन द्वारा निरन्तर होता रहा^२ । बाद की शताब्दियों में बहुत अधिक संख्या में आने वाली उपजातियों और कबीलों के कारण इस क्रम में बहुत तेजी आ गई थी ।

दूसरा तत्त्व कर्म-विपाक और आवागमन के सिद्धान्तों का विकास था, जिसने बहुत हद तक उस सामाजिक पद्धति के आध्यात्मिक अभावों की पूर्ति की, जो शोषितवर्ग को केवल निराशा और शाश्वत दासता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दे सकती थी । इसमें अत्यन्त शोषित और हीनतम मनुष्यों तक को आशा की झलक दिखाई गई बेशक अगले जन्म में ही । मुसलमानों या ईसाइयों का परम्परागत नरक-स्वर्ग इस योग्य न था कि भारत की नवीन सामाजिक व्यवस्था के अभावों की पूर्ति कर सकता । मोक्ष-सिद्धान्त द्वारा शोषण और सामाजिक उत्पीड़न को, पिछले कर्मों का फल और अटल होनी बतलाकर, बिना किसी बल-दमन के स्वीकार कराया गया । इस तरह नवीन सांस्कृतिक अधि-

१. 'रिलीजन आव इण्डिया' में प्रो० हापकिन्स लिखते हैं—“ब्राह्मणवाद सर्वदा सागर में द्वीप के समान रहा है । ब्राह्मण युग में भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि वह थोड़े लोगों का विश्वास था” ।

२. इसका प्रमाण सर एथलस्टेन बेन्स द्वारा रचित 'इथनोग्राफी (कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स)' में दी गई वर्ण और जाति समुदायों के पेशों और धन्धों की सूची से मिलता है ।

संरचना ने वर्ग-युद्ध को मन्द और विकृत कर दिया और इससे समाज में अपरिवर्तनशीलता व वृद्धिरोध हो गया ।

इस अधिसंरचना के अपने आवश्यक अंग थे—जैसे मोक्ष की छः दर्शन प्रणालियाँ—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त । न्याय और वैशेषिक एक-दूसरे के परिपूरक थे । ये तर्क और प्रमाण का प्रतिपादन करते थे और इनमें वैज्ञानिक चिन्तन के कुछ तत्त्व थे । दूसरी और तीसरी शताब्दी तक, जब पतंजलि ने अपना योगशास्त्र लिखा, ये पद्धतियाँ फीकी पड़ चुकी थीं और बाद में दोनों मिलकर एक हो गईं । पूर्व-मध्ययुग में जब वैराग्य-भावना का प्राधान्य था तब सांख्य और योग प्रमुख सांस्कृतिक शक्ति बन गये । इनमें भी योग का प्रभाव सांख्य से अधिक था क्योंकि यह अधिक वैराग्य-प्रधान था तथा अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसमें पलायन द्वारा समाज की दुष्प्रवृत्तियों पर 'विजय' प्राप्त करने की अधिक चेष्टा थी । कालान्तर में जब कृषि तथा ग्रामीण जीवन अधिक समृद्धिशाली हो गये और सामाजिक दुष्प्रवृत्तियाँ नितान्त असहनीय न रहीं और कम हानिप्रद हो गईं, तब धार्मिक मतों ने एक नवीन स्वरूप ग्रहण किया । इसमें उन सामाजिक दोषों का अस्तित्व अस्वीकार तो न किया गया, किन्तु उनपर आँखें मूँद ली गईं । इस तरह पाँचवीं और छठी दर्शन प्रणालियाँ मीमांसा और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त सम्मुख आईं । हिन्दू दर्शन में, या मोक्ष प्राप्त करने की इन छः पद्धतियों में, स्पष्टतः ही उन धार्मिक मतों के लिए स्थान न था, जो सामाजिक दोषों के विरोध अथवा उनके सुधार के लिए विकसित हुए थे । यह धार्मिक विचारधारा, जिसने बाद के निर्गुणभक्ति आन्दोलन को बहुत कुछ अंशदान दिया, अपने स्वरूप और बहुत सी बातों में उन अहिन्दू विश्वासों और धार्मिक विचारों से प्रभावित हुई जो उस समय प्रचलित थे और जो हिन्दू दर्शन की छः उक्त पद्धतियों के साथ-साथ विद्यमान थे ।

उस ढीली-ढाली विचार-प्रणाली के, जो बाद में हिन्दू धर्म के नाम से लक्षित हुई, अंतर और बाहर के धार्मिक विश्वास दो भागों में विभाजित थे—आस्तिक और नास्तिक । इनमें आस्तिक के अन्तर्गत वैदिक तथा अवैदिक दोनों मत थे और नास्तिक के अन्तर्गत बौद्ध, जैन, आजीविक तथा कई अन्य सम्प्रदाय थे जो प्रथम सहस्राब्दी ई० के मध्य तक प्रमुख मानसिक शक्तियाँ बने रहे । वैदिक विचारधारा में ६ दर्शन थे जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इन में वेदान्त ने सबसे अधिक लोक-यता प्राप्त की, किन्तु इसमें भी विभिन्न विचारधाराएँ थीं—यथा

अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, सौर, इत्यादि जिन्होंने बीसियों सम्प्रदायों को जन्म दिया। इनमें हर एक के अपने-अपने भाष्य होते थे जो उपनिषदों, गीता अथवा ब्रह्मसूत्र पर आधारित होते थे और कई बार इन तीनों ही पर। शंकराचार्य (? ७८८ से ८२० ई०), जिन्होंने वेदान्त के माहात्म्य को स्थापित किया, अन्य वैदिक सम्प्रदायों में से अधिकांश को अवैदिक मानते थे।

अवैदिक आस्तिकों की भी, जिन्हें मनु ने नास्तिक कहा है, अनेक विचारधाराएँ थीं, यद्यपि इन के सम्बन्ध में बहुत ही थोड़ी सामग्री उपलब्ध है। इनमें से पंचरात्र सम्प्रदाय ने अपने पीछे विशाल साहित्य छोड़ा है। इनके ग्रन्थों की संख्या १०८ मानी जाती है और उतनी ही संहिताएँ हैं, यद्यपि इनमें बहुत थोड़ी ही छपी हैं। इन सम्प्रदायों की कृतियों में अन्य विस्तृत साहित्य का उल्लेख है, किन्तु उसमें से बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। भागवतों की परम्परा को मानते हुए उन्होंने वासुदेव-कृष्ण की विभिन्न पौराणिक कथाओं को सृष्टि-मूलक आधार दिया। इससे भक्तिमार्ग को बड़ी प्रेरणा मिली। इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि दक्षिण भारत में जहाँ नागरिक अर्थव्यवस्था बराबर अक्षुण्ण चली आ रही थी, ७ वीं से ११ वीं शताब्दी तक भक्तगायक भक्ति से ओतप्रोत होकर एक मन्दिर से दूसरे में भजन गाते फिरते थे। इन भजनों पर संहिताओं की अपेक्षा रामायण, महाभारत तथा पुराणों का अधिक प्रभाव पड़ा, यद्यपि ये भक्त वैष्णव तथा शैव दोनों थे। इस आन्दोलन ने दक्षिण भारत को दस अलवार सन्त और उनका साहित्य प्रदान किया। उत्तर में भक्तजनों को 'पंचरात्रसंहिता', 'विष्णुपुराण' और 'श्रीभाष्य' ने अधिक प्रभावित किया और इस आन्दोलन का मुख्य केन्द्र मथुरा हो गया। उस काल में व्यापार का केन्द्र और व्यापारी श्रेणियों का निवास-स्थान गंगा तट स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) हो गया था, जहाँ गंगा का जलमार्ग व्यापार के लिए अधिक सुगम था। मथुरा का आकर्षण इतना बढ़ गया था कि श्री रामानुजम (१०१७-११३७ ई०) सरीखे भक्त दक्षिण में अपना इष्ट मन्दिर छोड़ कर यहीं आकर रहने लगे थे। यह आन्दोलन सगुण भक्ति का सीधा पूर्वज था जिसका चरम विकास सूर और तुलसी में हुआ।

उपरोक्त वैदिक और अवैदिक धार्मिक मत यद्यपि एक विशेष अधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक वर्ग के लिए विकसित हुए थे, फिर भी वे जनसाधारण के विश्वासों के सतत आक्रमणों से अप्रभावित न रह सके। जब कभी ज्वाला-मुखी के समान जनशक्तियों का उत्थान होता और अवश्यंभावी पतन के बाद पुनः

वर्ग-संघर्ष तीव्रतर हो जाता, शोषकवर्गों के विश्वासों का भी आवर्त्तन होता और उनका रूप परिणत हो जाता। हिन्दूधर्म की अनगिनत रीतियाँ-विधियाँ और सांस्कृतिक आकार-प्रकार उस वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये जो भारतीय समाज में निरन्तर घटता-बढ़ता रहा है। इस प्रकार हिन्दूधर्म के आधुनिक संभार जनसाधारण द्वारा सजित हुए यद्यपि उनका व्यवहार उनके विरुद्ध भी होता रहा।

विष्णु भगवान् के दस अवतारों की परम्परा का आविर्भाव यह निर्देशित करता है कि पूर्व मध्य-युग में जनसाधारण के विश्वासों ने वैदिक धर्म में कितना उथल-पुथल और परिपतन कर दिया था। बाद में भी कृष्ण की परिसाधना द्वारा भारत के कई भागों और कई युगों के अनेक वीरों का समन्वय हुआ। तुच्छ ग्रामीण गोपालिक जीवन और उच्छृंखल विलास के रूप में निर्गमित होकर, यह उस काल में विरोध-शक्ति बनकर विकसित हुआ था^१। वह प्रथम सहस्राब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में बाल-भगवान्—बालगोपाल—और राधिका की साधनाओं में भी प्रकट हुआ। जनसाधारण ने इन प्रतीकों का विरोध के रूप में व्यवहार किया जैसे यूरोप में होनी के विरोध में बाल-ईसा और उसकी माता कुंवारी-मेरी प्रतीक बने। “वह सम्पूर्ण रूप से विधिविधान के विरुद्ध विद्रोह था, धर्मश्रुतियों और उन पर आधारित स्मृतियों के प्रति घृणा थी, तथा मानव प्रकृति का अपने बंदीगृह की दीवारों के प्रति अकथनीय क्रोध था”^२। विशेष अधिकारप्राप्त अल्पसंख्यकों द्वारा अपना लिये जाने पर भी, विरोध के इन स्वरूपों को जनता बार-बार नया रूप देती रही और इसके लिए उसने अपनी ग्राम्य परम्परा की दन्तकथाओं और दैनिक संस्कारों से सामग्री ली। जितना अधिक दमन किया जाता जनसाधारण के विश्वासों का उतनी ही वेगमय प्रचण्डता से प्रस्फोटन होता। यहाँ तक कि शासक वर्ग को इन विश्वासों और विरोधी विचारों से पुनः समझौता करना पड़ता और

१. विष्णु दे : “उन दिनों स्वतन्त्रता के कम अवसर थे और मानसिक जागरण की कम सम्भावना थी। केवल दो मार्ग थे। लैंगिक हेत्वाभास तथा अशास्त्रीय देवी-देवताओं की उपासना। इनका प्रमाण सुदूर गावों में अभी भी मिलता है। सुगमता के लिए इस मनोवृत्ति को हमें मध्ययुगीन संसार के अन्तर्गत ‘मानवतावाद’ कहना चाहिए और फिर हम यह समझ सकेंगे कि जनता ने समझौते की अपेक्षा निष्कृति कैसे प्राप्त की।” (‘अस’, नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता १९४३)।

२. हेनरी एडम—जोसेफ़ नीडम रचित ‘टाइम दि रिफ़ोर्शिंग रिवर’ से उद्धृत।

इस प्रकार उनमें से अनेक को ग्रहण करके अपने धर्म, संस्कारों और रीतियों में फिर परिवर्तन करना पड़ता । “विद्रोह तथा समन्वय के इस क्रम द्वारा ही हिन्दू-पुराणशास्त्रों में इतनी अभूतपूर्व संकुलता और जटिलता उत्पन्न हुई हैं, जिसमें तीन करोड़ तथाकथित देवता और देवियाँ हैं । पहले अस्वीकृत, बाद में सहन और अन्त में समन्वयित कर लिये जाने वाले ये देवी और देवता तथा साथ में असंख्य प्राग-आर्य संस्कार और आचार-विचार इस बात को प्रमाणित करते हैं कि किस प्रकार जनप्रिय कल्पना शास्त्रसम्मत विचारधारा पर निरन्तर विजयी होती रही है”^१ ।

उपरोक्त विरोधी धार्मिक मत जो मुख्यतः नास्तिक तथा अवैदिक या मुसलमानों के भारतागमन तक यहाँ पूरे तौर से फैल रहा था । मुसलमानों के आने के बाद बहुत सी अहिन्दू जातियों के लोगों को या तो हिन्दू समाज में जहाँ कहीं स्थान मिला घुसना पड़ा या वे इस्लाम की ओर खिसकने लगे । इस शताब्दी के प्रारम्भ तक भी कई ऐसी श्रेणियाँ और समुदाय थे जिनके मुसलमानी नाम थे किन्तु वे अपने पहले के विश्वासों और रीतियों को मानते चले आ रहे थे; और जैसा कि कबीर ने अपने बारे में कहा है, वे “न-हिन्दू न-मुसलमान” थे । मुसलमानों के हिन्दू-विरोधी होने के कारण कई अहिन्दू मत उन्हें उद्धारकर्त्ता मानने लगे थे जैसा कि रमाई-पण्डित के ‘शून्य-पुराण’ से विदित है और यह संभव है कि उनमें से कुछ ने मुसलमान नाम अपना लिये थे । सेन्सस रिपोर्ट में एक के बाद दूसरी दशाब्दी में मुसलमान योगी दर्ज किये गये हैं और बंगाल व बिहार में, जहाँ ये मुसलमान योगी नहीं लिखे गए वहाँ इनकी जाति जोग लिखी गई है । यह घटना कबीर के समय तो बहुत प्रचलित रही होगी । अतएव इस बात के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है कि कबीर ने मुसलमानी नाम होते हुए भी अमुस्लिम रीतियों का प्रचार किया । आगे चलकर हम यह देखेंगे कि इन विश्वासों की परम्परा भी अहिन्दू थी । बंगाल में बीसियों मुस्लिम कवियों ने उलटबांसियाँ लिखी हैं जिनके लिए कबीर इतने प्रसिद्ध हैं । महापंडित राहुल सांकृत्यायन^२ ने बताया है कि यह परम्परा पिछली शताब्दियों के सिद्ध, नाथपन्थियों और सहजयानियों से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी ।

इस काल में कई सम्प्रदाय और पन्थ अपनी अवैदिक या वैदिक-

१. जान अरविन : क्लास स्ट्रगल इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर—माडर्न क्वाटरली, न्यू सिरीज़, भाग १ नं० २, मार्च १९४६ ।

२. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा ।

विरोधी प्रकृति के कारण हिन्दूधर्म से बाहर माने जाते थे। यद्यपि इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ नास्तिक सम्प्रदाय वेदों को मानते थे, किन्तु समस्त अवैदिक सम्प्रदाय सामान्यतः नास्तिक समझे जाते थे। मनु ने वेद की आलोचना करने वाले को नास्तिक कहा है। कुल्लूक भट्ट ने मनु पर अपनी टीका में उन सब को नास्तिक माना है जिनका परलोक में विश्वास नहीं था। श्रीकृष्ण धूर्जटि मिश्र ने नास्तिकों के ६ सम्प्रदाय माने हैं—(१) चार्वाक (२) माध्यमिक बौद्ध (३) योगाचार बौद्ध (४) सौत्रांतिक बौद्ध (५) वैभाषिक बौद्ध और (६) दिगम्बर जैन^१। इससे यह विदित होगा कि नास्तिक पद उन लोगों के लिए व्यवहार में आता था जो 'हिन्दूधर्म' से सम्बन्धित रीतियों और उपदेशों पर विश्वास नहीं रखते थे। इस काल के विस्तृत साहित्य के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक थी। बौद्ध सम्प्रदाय स्थविरवाद का सम्पूर्ण साहित्य अब उपलब्ध हुआ है। वह आकार में महाभारत का तिगुना है। इससे यह विदित होगा कि अहिन्दू सम्प्रदायों का कितना विशाल साहित्य रहा होगा, यद्यपि उसमें से बहुत कुछ नष्ट हो गया है। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय कापालिक, लाकुल, वाम, भैरव, आजीविक, वज्रयानि, सहजयानि इत्यादि की अपनी-अपनी शाखाएँ, उपशाखाएँ थीं, जो यौगिक, तांत्रिक, शैव, शाक्त और अन्य विश्वासों की व्याख्याओं पर बनी थीं।

प्रथम सहस्राब्दी ई० के अन्त में हिन्दू समाज अत्यन्त दृढ़ और कठोर होने लगा क्योंकि मुसलमानों के आने से समस्त भारतीय समाज को एक नवीन शक्ति का सामना करना पड़ा। बहुत से अवैदिक सम्प्रदाय वैदिक विश्वास प्रणाली में मिल जाने के लिए उन्मुख हुए। इसी प्रकार अनेक अहिन्दू सम्प्रदायों ने अपने विश्वासों में सुधार का प्रयत्न कर हिन्दू समाज के निकट आना चाहा। ११ वीं और १२ वीं शताब्दी के बाद अहिन्दू सम्प्रदायों में हिन्दू समाज के साथ मिल जाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। अवैदिक विश्वासों में आस्था रखने वाले वैष्णवों और शैवों के लिए वैदिक वैष्णवों और शैवों में मिल जाना तो सरल ही था। उन तमाम अहिन्दू श्रेणियों और जातियों का जो इस्लाम में प्रवेश करने से हिचकिचा रही थीं किन्तु जिन्हें हिन्दू समाज में कोई स्थान नहीं मिल सका था, नाथपन्थ आकर्षण-बिन्दु बन गया। 'योगसम्प्रदाय विष्कृति' में धवलगिरि से ६० मील पूर्व त्रिशूलगंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाम-मागियों और गोरखनाथ के एक सम्मेलन की चर्चा है। वाममार्गी गोरखनाथ

१. दे०—हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना।

की सब शक्तें मान न सके और इसीसे उनके सम्प्रदाय में न लिये जा सके । गोरखबन्सी में (आधुनिक कलकत्ता के निकट) ऐसे ही एक सम्मेलन की चर्चा है जिसमें काली देवी के समस्त शाक्त उपासक उनके पंथ में दीक्षित हो गये । कुछ सम्प्रदायों के ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं जिन्होंने अपने अवैदिक विश्वासों में परिवर्तन कर उसकी नवीन व्याख्या ऐसी की कि वह हिन्दूसमाज के अनुरूप हो गई । 'हठयोग प्रदीपिका' के एक श्लोक में गोमांस खाने की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि 'गो' का अर्थ गाय न मानकर जिह्वा किया गया है तथा गोमांसभक्षण उसे उलटकर 'ब्रह्मरंध्र' में ले जाने की एक योगिक क्रिया बताई गई है ।

जितने भी संप्रदाय नाथपन्थ में मिले वे सब प्रायः अपने प्राचीन विश्वासों को ग्रहण किये रहते थे, किन्तु हिन्दूधर्म में निषिद्ध बहुत सी रीतियों को छोड़ देते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी काल में गो का माहात्म्य हिन्दूसमाज में बढ़ा और उसमें प्रवेश करने वाले सम्प्रदायों के लिए यह आवश्यक समझा गया ।

बौद्धधर्म, मुसलमानों के आने के कुछ बाद भी, पूर्वीभारत में अपना स्थिर प्रभाव तथा स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रहा । कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने बिहार पर आक्रमण के समय नालन्दा और उदन्तपुरी के बौद्ध-विहारों और ग्रंथालयों को नष्ट कर दिया । इसी काल में कुछ आक्रमणकारियों द्वारा सारनाथ भी नष्ट कर दिया गया । ऐसा विश्वास है कि गोरखनाथ भी प्रारम्भ में बौद्ध थे ।^१ 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार जब श्री चैतन्य देव (मृत्यु १५३३ ई०) दक्षिण भारत गए तब उनका अरकाट के बौद्ध-भिक्षु से शास्त्रार्थ हुआ था । सन् १४५० ई० में गया में बौद्ध-मन्दिर निर्माण कराने वाले किसी चांगलराज राजा का भी उल्लेख है । बौद्ध-संघों के नष्ट हो जाने के बाद भी निरंजन, सिद्ध, धर्मपन्थी और वैसे ही कई बौद्धों से मिलते-जुलते सम्प्रदाय बहुत समय तक वर्तमान रहे ।

इन सब सम्प्रदायों ने अपने साहित्य के लिए जनता की बोलचाल की भाषाओं या उन्हीं के मिश्रण का व्यवहार किया तथा छन्दों को भी ग्रामीण जन-परम्परा से लिया । दोहा, चौपाई, पद और नाथपन्थियों की उलटबांसी तथा उनके सीधे-साधे वस्तुविषय ने निगुंण-भक्ति आन्दोलन को मुख्य प्रेरणा दी । इन निगुंण सन्तों ने नाथपन्थियों की भाँति ही देवोपासना के स्थान पर सत्नाम द्वारा सतगुरु की प्राप्ति के लिए किसी गुरु विशेष में आस्था की

परम्परा अपनाई। इस प्रकार अहिन्दू और हिन्दू विश्वासों के संश्लेषण द्वारा इस निगुण भक्ति आन्दोलन का मुख्य आध्यात्मिक परिग्रह प्रस्तुत हुआ।

उत्तरीभारत में मुसलमानों के आक्रमणों के कारण व्यापार को बहुत धक्का लगा था। वह अब धीरे-धीरे सँभल रहा था। महमूद गज़नवी और तैमूर द्वारा संहार के बाद नगर फिर से पनपने लगे थे। आगे चल कर इन नगरों ने ही व्यापारिक अर्थव्यवस्था के विकास और उपजातियों और जातियों के मेल-जोल में प्रमुख भाग लेना था। कन्धार से कलकत्ता तक और हिमालय से कच्छ तक अलबेरुनी ने (११ वीं शती ई०) केवल दो दर्जन नगरों का ही उल्लेख किया है^१। एक सहस्राब्दी पूर्व उत्तर भारत नगरों और उद्योग-केन्द्रों से भरा हुआ था। मौर्यकाल में नगरों का उल्लेख करते हुए मेगस्थनीज़ लिखता है कि उनकी संख्या इतनी अधिक है कि ठीक-ठीक बताई नहीं जा सकती। इसके पूर्व सिकन्दर के आक्रमण के भूगोलविद स्ट्राटो ने स्वीकार किया है कि भेलम और व्यास के बीच में ५०० नगर थे। इसकी पुष्टि पाणिनि की अष्टाध्यायी से भी हाती है।^२

सामन्तवाद की वृद्धि से नगरों की संख्या और महत्व में कमी आ गई थी किन्तु उन्हें मुख्य हानि उत्तर-पश्चिम की ओर के आक्रमणों द्वारा हुई। चीनी यात्री ह्वान्-सांग जो हूणों के आक्रमणों के कुछ देर बाद भारत आये, पेशावर का इस प्रकार दुःखद वृत्तान्त देते हैं : “राज्यवंश का विनाश हो चुका है और उस राज्य को कापिष (प्रदेश) में मिला लिया गया है। नगर और ग्राम निर्जन और परित्यक्त हैं और देशभर में बहुत थोड़े निवासी नजर आते हैं। राजधानी (पेशावर) के एक भाग में लगभग एक हजार परिवार शेष हैं.....दस लाख बौद्ध-विहारों का विध्वंस हुआ है, उन पर झाड़ू-भंकाड़ उगे हुए हैं और सन्नाटा छाया हुआ है। अधिकांश स्तूप भी खण्डहर हो रहे हैं”।^३ ११वीं शताब्दी में महमूद के १७ आक्रमणों का उल्लेख करता हुआ अलबेरुनी लिखता है : “महमूद ने देश की समृद्धि को नितान्त नष्ट कर दिया और बहादुरी के कारणामे दिखाये जिनसे हिन्दू धूलिकणों की तरह चारों ओर बिखर गये और अतीत की दुःखद कहानी-मात्र बनकर रह गये”।^४ दो शताब्दियों के बाद तैमूर भी १. देखिए, अलबेरुनी—किताबुल हिन्द।

२. देखिए, वासुदेव शरण अग्रवाल—इन्डिया एज नोन टू पाणिनि।

३. ह्वान-सांग—वाटस द्वारा अंग्रेजी में अनूदित।

४. एल० एलोथोरी—“दी मैडिवियल पोरियड ऑफ इन्डियन हिस्टरी” से उद्धृत।

इसी तरह दिल्ली तक आया और अपने पीछे मृतकों के ढेर, जलते हुए नगर और गाँव छोड़ गया। केवल दिल्ली ही में उसने एक लाख मनुष्यों का वध किया तथा पाँच दिनों तक नगर में निरन्तर लूटमार मची रही। गुरु नानक ने अपनी 'बाबर बानी' में बताया है कि बाबर के आगमन के साथ कैसे स्त्रियाँ विधवा और मनुष्य आश्रयहीन हो गए थे; और वे स्वयं उसकी सेना द्वारा बन्दी बना लिये गए थे। नगरों का बारम्बार विध्वंस बहुत हानिकारक था। इससे शासन संगठन समाप्त हो जाता था, जिसके बिना सिचाई की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाती थी, क्योंकि गर्म देशों में सिचाई की व्यवस्था के लिए जिस आयोजन की आवश्यकता है वह शासन-संगठन द्वारा किये गए सार्वजनिक निर्माण कार्यों से ही हो सकता है। एक उच्च सामन्ती व्यवस्था, प्रचुर, उपजाऊ और अच्छी भूमि के आधार पर पनप सकती थी। उत्तरी भारत में कृषि-व्यवस्था बार बार परवर्तित हुई। यह इस काल में दासों की अधिक संख्या तथा उनके सस्तेपन से भी प्रकट होता है। यूरोप की सामन्तशाही में दास-प्रथा बिल्कुल मिट चुकी थी। फीरोज़ तुगलक के समय में एक दास का मूल्य आठ टंक था जबकि एक बकरे का तीन टंक था। वह राज्य के मंसबदारों को वार्षिक कर के रूप में दासों के देने को प्रोत्साहित करता था और इसी के अनुसार उन्हें राज-कोषसे कर-मुक्ति मिल जाती थी। अलाउद्दीन के समय में दिल्ली में दासों की संख्या ५०,००० थी जो फीरोज़ के समय तक दो लाख हो गई थी। इनमें १२००० कारीगर और शिल्पी थे जो अनेक प्रकार के सामान बनाने के लिए शाही कारखानों में काम किया करते थे।^१

इस काल में उपयोगी विज्ञान ने बहुत कम प्रगति की। यूरोप की रसायन विद्या 'अलकेमी' के विपरीत भारतीय रसायन, जिसे साधारणतया सिद्ध-रसायन कहा जाता था, केवल यन्त्र-तन्त्र पर आधारित थी जैसा कि अलबेरूनी के वर्णन से विदित होता है।^२ भारत में इसका भी कहीं निर्देश नहीं है कि सामन्ती समाज उस उच्च स्तर पर जा रहा था जहाँ वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था उसकी कठोरता को कम करती है। इन परिस्थितियों में केवल भवन निर्माण कला विशिष्ट प्रगति कर सकती थी। उस काल में भारत में संसार के कुछ सर्वोच्च राजगीर और कारीगर थे। अमीर खुसरो ने उस काल के दिल्ली के कारीगरों और संगतराशों के विषय में गर्वपूर्वक कहा है कि वे मुस्लिम संसार में सर्वश्रेष्ठ थे। तैमूर अपने साथ सहस्रों कारीगर और शिल्पी समरकन्द ले गया था। किन्तु स्थापत्य कला का यह विकास एक साधन-मात्र भी और

१. मोहम्मद अशरफ़: लाइफ एण्ड कण्डीशन ऑफ दि पीपुल आब हिन्दुस्तान।

मवन-निर्माण में जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ होती थीं उनका ही समाधान हूँडे लेने से यह हुआ था। उससे वैज्ञानिक जानकारी में कोई प्रगति नहीं हुई—मेहराबदार छतें आदि निर्माण करने के वैज्ञानिक नियम बहुत बाद में खोजे गये थे।

भारतीय भाषाशास्त्रियों को यह भी विचार करना चाहिए कि भारत में जो यूरोप से भिन्न 'एशियाई सामन्ती समाज' था, वह क्या पश्चिमी यूरोप के समान एक प्रौढ़ मुद्रा-माल अर्थव्यवस्था को उत्पन्न करने की क्षमता रखता था और क्या ऐसा समाज पूँजीवादी वर्ग का सृजनहार हो सकता था। ये व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था के प्रौद्योगिक पहलू और उत्पादन की प्रविधियों तथा व्यापार में उन्नति थी जिन्होंने मध्ययुगीन अवर्द्धमान विज्ञान के स्थान पर प्रगतिशील प्रयोगात्मक विज्ञान को जन्म दिया। एशिया के अन्य स्थानों की तरह भारत में बहुत पहले से प्रारम्भ होने पर भी, प्रविधियों की प्रगति बिल्कुल रुक गई जिसके परिणामस्वरूप स्थिर प्रौद्योगिक स्तर की 'पूर्वी सभ्यता' की रचना हुई। चीन में तो यह प्रौद्योगिक स्तर बहुत ऊँचा था, किन्तु वहाँ भी आधुनिक प्रयोगात्मक विज्ञान और पूँजीवादी वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ^१। जे० नीडम ने चीन पर लागू होने वाला एक कारण यह दिया है कि वहाँ शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त अधि-

१. जे० डी० बर्नाल : "मध्ययुग की प्रौद्योगिक प्रगतियाँ उपजाओं तथा आविष्कारों के विकास और विद्वोहन द्वारा संभव हुईं। इन सबने मिलकर यूरोपियों को प्रकृति पर नियन्त्रण करने और उसे समझ सकने की शक्ति दी जो कि उन्हें शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त न थी। यह ध्यान रखने की बात है कि महत्वपूर्ण आविष्कार, जैसे घोड़े का कवच, पतवार की फिरकियाँ, कुतबनुमा, दिग्घटी, कागज, बारूद, मुद्रण, इत्यादि यूरोप में विकसित नहीं हुए थे। ये सब पूर्व से, अन्ततः चीन से, आये प्रतीत होते हैं; यूरोप से केवल क्लाक और अलकोहल आये।

"जैसे-जैसे हम चीन के वैज्ञानिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करते हैं हमें पता चलता है कि समस्त संसार के लिए चीन के प्रौद्योगिक विकास कितने अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। हमारे पास यह विश्लेषण के लिए पर्याप्त मसाला है कि पश्चिमी ईसाई सभ्यता का बङ्गपन बाकी संसार के विषय में दीर्घिक अज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार के ऋण को सिद्ध करना सर्वदा कठिन होता है किन्तु तथ्य यह है कि पश्चिमी यूरोप में केवल दसवीं या बाई की शताब्दियों में जो उपजाएँ प्रकट हुईं उनका हमारे संवत् की प्रथम शताब्दियों में चीन में पूर्ण विवरण मिलता है।" (इतिहास में विज्ञान)

कारी-तन्त्र मण्डारिनों का उदय हुआ जिन्हें प्रौद्योगिक प्रविधियों के सुधार में कोई रुचि न थी और जो व्यापारी-निगमों को दबाकर रखना चाहते थे^१। ये व्यापारी ही नवीन तिजारती मण्डियां और नये बाज़ार खोलकर प्रविधियों को आगे बढ़ा सकते थे। भारत में ब्राह्मणवर्ग को तो, जो बिल्कुल परिवर्द्ध और परम्परागत था, चीन के मण्डारिन वर्ग की सी भी सुविधा न थी, जो अपने में एक न्याय-संगत प्रतियोगिता द्वारा समस्त वर्गों और श्रेणियों के योग्यतम बालकों की भरती करता था। वैश्यों को शूद्रों की स्थिति पर गिरा देने के बाद, जिसका प्रमाण गीता में मिलता है, भारत में ब्राह्मणों और वैश्यों के संघर्ष ने वर्ग-संघर्ष का रूप ले लिया। वैश्यों ने साधारणतया बौद्ध-जैन इत्यादि ब्राह्मणोत्तर धर्मों के प्रति आस्था प्रकट की और संस्कृत के विरुद्ध अपनी भाषाओं, प्राकृतों और अपभ्रंशों, को आगे बढ़ाया। जब ब्राह्मणों और वैश्यों तथा उनके सहायक शूद्रों का वर्ग-संघर्ष तीव्र हो गया तब वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था—ब्राह्मण का पोरो-हित्य कर्म, क्षत्रिय का राजकर्म, वैश्य का वणिक्कर्म और शूद्र का दासकर्म—खिन्न-भिन्न हो गई। बार-बार ब्राह्मण अथवा वैश्य तथा उनके सहायक, राजा और शासक-सरदार के रूप में आगे आते रहे। बंगाल के ब्राह्मण राज्य के विरुद्ध हर्ष के विजयी युद्ध और बाद में गुर्जर-प्रतिहारों के साम्राज्य के उभरने से, वैश्य शीर्ष स्थान पर आ रहे थे, किन्तु मुसलमानों के आने से फिर ब्राह्मणों के अनुकूल पासा पलट गया। इसलिये मुगलकाल में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के विकास का परीक्षण, भारतीय सामन्ती समाज के इस लौह विधान और तत्कालीन भारत में विद्यमान सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को दृष्टि में रखते हुए करना होगा।

भक्ति आन्दोलन उत्तरी भारत में उस समय उठा जब मुद्रा पर आधारित व्यापार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था और अर्थव्यवस्था पूर्णतया ग्रामीण थी। यह अर्थव्यवस्था स्वावलम्बी ग्रामों पर आधारित होने के कारण, उत्पादन-कार्य मुख्यतः स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए था। उद्योग और व्यापार, जो मुख्यतः कृषि-उत्पादन पर आधारित थे, दस्तकारियों तक सीमित थे। नदियों के किनारों पर बसे व्यापार-केन्द्रों में जो छोटे-बड़े पैमाने पर स्थानीय उद्योग-धन्धे चलाये जा रहे थे, वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त किये हुए उच्चस्तरीय अभ्यास और दक्षता का परिणाम थे, किन्तु उनमें कोई विज्ञान या प्रौद्योगिक प्रगति न थी। पिछली बहुत सी शताब्दियों में कृषि अथवा परिवहन के साधनों में कोई प्रगति नहीं हुई थी। साधारण ग्रामीण अपने उसी हजारों वर्ष पुराने

हल से कृषि-कर्म करता और बैलगाड़ी चलाता आ रहा था। मुख्य सरिताओं पर पुलों का अभाव था और देश का अधिक भूभाग वनों से भरा पड़ा था। हाथियों, चीतों इत्यादि के झुण्ड के झुण्ड उत्तरी प्रदेशों के समस्त भूभाग में फिरते थे और इनके कारण उपजातियों और क्षुद्र राष्ट्रों में अलगाव बना हुआ था। कृषि उत्पादन के अपर्याप्त आधिक्य के कारण अतिरिक्त-मूल्य की कमी से ही नहीं, वरन् परिवहन के साधनों की मन्दगति के कारण भी व्यापार और मुद्रा-माल सम्बन्धों का विकास पिछड़ा रहा। अतएव इस काल में यह सम्भव नहीं हो सकता था कि उपजातियों और जातियों की भाषाएँ संश्लेषित होकर राष्ट्रीय भाषाएँ बनतीं। इसके लिए वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के विकास और विशाल क्षेत्रों में परस्पर ग्रथित बाजार की वृद्धि के साथ-साथ केन्द्रीय वाणिज्यिक राज्य के विकसित होने की आवश्यकता थी जो इसे प्रोत्साहन देता और सामन्ती पृथक्करण दूर करता। ऐसी स्थितियाँ मुगल काल में आगे आईं जब भाषाओं तथा उपजातियों और जातियों के सम्मिश्रण ने एक नवीन रूप धारण किया। इसका सविस्तार परीक्षण आगे के अध्याय में होगा।

इन तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि यह सामान्य धारणा कि आधुनिक हिन्दी तथा उत्तरी भारत की अन्य भाषाओं का जन्म इस सहस्राब्दी के प्रारम्भ में हुआ, वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं है। डा० सु० कु० चटर्जी विशिष्ट रूप से कहते हैं कि हिन्दुस्तानी के उद्गम में ११०० से १८०० ई० तक सात शताब्दियाँ लगीं। डा० सम्पूर्णानन्द का भी यही मत है “कि आज की हिन्दी वही हिन्दी है जिसका उद्गम कई शताब्दियों में उन प्राकृतों से हुआ है जिन्होंने उत्तरी भारत में साहित्यिक रूप धारण किया”। इससे सहमत होते हुए सज्जाद ज़हीर भी हिन्दुस्तानी की खोज “११वीं शताब्दी ई० में भारत में तुर्कों के आक्रमण के समय प्रचलित प्राकृत के अपभ्रंश रूप” से करते हैं।

आधुनिक हिन्दी में अपभ्रंशों से मिलते-जुलते कुछ व्याकरण के नियमों से यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपभ्रंश से निकली है। अपभ्रंशों के साहित्यिक भाषा बनने के पूर्व ही विभक्तियों आदि का पृथक्करण शुरू हो गया था, जैसा कि आधुनिक भाषाओं में है और अपभ्रंशों को कुछ ऐसे व्याकरण के रूपों को लेना पड़ा। बाद में ‘भक्तिकाव्य’ और ‘रासो’ ने भी उसकाल की बोलचाल की भाषाओं से व्याकरण के वे रूप लिये क्योंकि ये जनता के अधिक सन्निकट थीं। किन्तु ये बोलचाल की भाषाएँ अभी उपजातियों और जातियों की बोलियों के रूप में जीवित थीं। उनका संश्लेषण हिन्दी के आदिकाल में नहीं, मध्यकाल में हुआ, जब ये मिलकर आज की प्रादेशिक भाषाएँ बनीं।

हिन्दी के आदिकाल की कृत्रिम भाषाएँ

हिन्दी का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया गया है—आदि-हिन्दी, मध्य-हिन्दी और आधुनिक-हिन्दी। इन तीनों कालों में तथा उनमें सम्मिलित नाना प्रकार की 'शैलियों' में गाढ़ सम्बन्ध ही नहीं खोजा जाता है, किन्तु ये सब एक ही भाषा मान ली जाती हैं। ११वीं शताब्दी की सिद्धों की भाषा से लेकर अति संस्कृतमयी आधुनिक हिन्दी तक, उत्तर भारत के विभिन्न भागों में इन आठ-नौ शताब्दियों में जो कुछ लिखा गया है उसमें भाषा-सम्बन्धी समानता स्थापित किये बिना ही, उसे एक भाषा मान लिया गया है।

हिन्दी के तथाकथित आदिकाल की भाषा समरूप नहीं है। उसके कई भेद वर्तमान हैं जिनमें से कुछ-एक में बिलकुल परस्पर सादृश्य नहीं है। ये दो रूपों या शैलियों में वर्गीकृत किये जाते हैं—वीरगाथाकाल की डिगल और भक्ति-काल का सन्तकाव्य। ये शैलियाँ परस्पर भिन्न और असम्बन्धित हैं।

डिगल शैली में उस काल के वीरगाथा-काव्यों की रचना हुई। इन्हें राजस्थान के भाटों ने लिखा, जो या तो किसी राजपूत राजा के आश्रित होते थे या इधर-उधर राजदरबारों में घूमते-फिरते थे; और परम्परागत प्राचीन योद्धाओं की स्तुति के साथ-साथ वे जिस राजदरबार में पहुँचते थे उसके गुणगान के लिए भी कुछ वर्णन कर देते थे। भाटों की इस जाति को चारण कहते हैं और इन चारणों द्वारा गाई गई वीर-गाथाओं को चारणकाव्य का नाम दिया गया है। इस काव्य को डिगल भी कहा गया है, जिसका अर्थ निम्न कोटि का या विरूप पद्य है, क्योंकि 'पिगल' काव्य की भाँति इसमें छन्दशास्त्र के प्रतिष्ठित नियमों का पालन नहीं किया जाता था।

सामान्तकाल की वीर-गाथाओं के गायक सामान्यतः दो प्रकार के थे। पहली श्रेणी के गायक जनता की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति करते थे। ये जनता के मनोरञ्जन के ही नहीं उनकी जानकारी के भी स्रोत थे। जनसाधारण

द्वारा आहत, किन्तु अधिकारियों और धर्माचार्यों द्वारा तिरस्कृत, ये गायक जनता के साधारण जीवन के बहुमुखी अनुभवों के गीत गाते थे। वे जनता के श्रम और प्रेम संगीतों से कथावस्तु प्राप्त करते और कई पीढ़ियों की सीखी हुई निपुणता से उन्हें ही काट-छांट कर संवारते रहते थे। जनता पर दमन करने वालों पर वे विदूषक की तरह हँसाते थे तथा कभी-कभी उनके विरुद्ध क्रोध भी उत्पन्न करते थे। उन्हीं की संस्मृति की अक्षय परम्पराओं से संगृहीत कल्पनाओं, उपमाओं, उपप्रेक्षाओं, छन्दों, बोलों, रागों, तालों को वे फिर से अत्यन्त प्राणमय कर देते थे। इस प्रकार वे चारण और उनका काव्य जनता के जीवन का अंग बन गया था। ये डिंगल या चारणकाव्य, जो प्रायः उपजातियों की बोलचाल की भाषा में होते थे, हिन्दी के इतिहासज्ञों द्वारा त्याज्य और असंकलित पड़े रहे हैं। इनके कुछ तत्त्व राजस्थान के जन-साहित्य में अब भी उपलब्ध हैं।

दूसरी श्रेणी के भाट या चारण इन वीरगाथाओं को अपने आश्रय-दाता किसी सामन्ती सरदार अथवा राजदरबार की प्रशस्ति में कहते थे। उनकी भाषा साधारणतया मिली-जुली थी और आम बोलचाल की नहीं होती थी तथा प्रायः एक राजदरबार से दूसरे तक बदलती रहती थी, क्योंकि जब वे चारण एक राजदरबार से दूसरे में जाते तो उन्हीं वीरगाथाओं और चारण-काव्यों में शब्द तथा भाषा का हेरफेर करते जाते; वही काव्य नये सामन्त की स्तुति के काम आ जाता और उसके दरबार के जीवित या मृत वीरों के नामों का उसमें समावेश कर दिया जाता। ये भाट एक दरबार से दूसरे दरबार में आया-जाया करते थे और निकटवर्ती राजदरबारों में समझी जाने वाली मिश्रित भाषा का प्रयोग करते थे। जब किसी राजा या सामन्त का भाग्योदय होता तो उसके दरबार की भाषा उस मिश्रित भाषा में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती थी।

लगभग इसी काल में जर्मनी के राजदरबारों में चान्सरी भाषा अस्तित्व में आई थी जो ऐसी ही मिली-जुली थी। किन्तु आधुनिक जर्मन भाषा का उद्गम इस भाषा से नहीं माना जाता। वह चान्सरी भाषा अलेमानिक, फ्रांकिश, बवेरियन और स्वाबियन से, जो पूर्ववर्ती शताब्दियों के ख्याति-प्राप्त सामन्त राज्यों की भाषाएँ थीं, भिन्न थी। वह चान्सरी भाषा व्याकरण के कम-से-कम नियमों को लेकर उन सामन्त राज्यों की भाषाओं में साधारणतया समझे जाने वाले शब्दों के मेल से बनी एक कृत्रिम भाषा थी। रासो काव्यों की डिंगल भाषा भी ऐसी ही मिली-जुली भाषा थी।

आदि-हिन्दी की इस शैली में सबसे प्राचीन ग्रन्थ चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' है, जो हिन्दी भाषा का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ माना जाता है। हिन्दी

के समस्त विद्वानों और इतिहासज्ञों ने इसकी भाषा को कृत्रिम और मिश्रित माना है। इस सम्बन्ध में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन है : “रासो की जैसी भी भाषा है वह जीवित बोली नहीं है—वह किसी भी काल या प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा नहीं है। वह एक कृत्रिम साहित्यिक बोली है, जिसका स्वरूप कई शताब्दियों की और सहस्रों वर्गमील में फैले भूखण्ड की कई बोलियों द्वारा निमित्त हुआ था। उसमें मुख्य तत्त्व पच्छिमी अपभ्रंश का है जिसमें पच्छिमी हिन्दी के साथ राजस्थानी बोलियों और प्रारम्भिक पंजाबी की विशिष्टताएँ हैं। इस प्रकार की एक मिश्रित बोली राजस्थानी कविता में १२०० ई० के बाद क्रमशः प्रचलित हो चली थी और उसका पिगला या पिगल नाम था। किन्तु राजस्थानी चारणकाव्य की यह मिश्रित बोली केवल विशिष्टजनों द्वारा समझी जाती थी, जनसाधारण की वह भाषा न थी^१।” इस कथन से इस विषय के सभी विद्वान् सहमत हैं। इस बात को भी सभी स्वीकार करते हैं कि बाद में इनमें बहुत से क्षेपकों का समावेश हो गया था। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी यही विश्वास है; इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं : “पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलद्विई (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में वह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि कवि कम। क्योंकि उसका काव्य अब जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रन्थ में इतनी प्रक्षिप्त बातें आ चुकी हैं कि ओझा जी जैसे ऐतिहासिक पण्डित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रन्थ समझते हैं।”^२ यह आश्चर्य की बात है कि इन सब बातों के रहते हुए भी ‘पृथ्वीराज रासो’ की यह भाषा हिन्दी भाषा का प्राचीनतम उदाहरण ही नहीं उस समय की बोलचाल की भाषा भी मानी जाती है।

रासो में भाषा का मिश्रण बाद के क्षेपकों द्वारा नहीं हुआ है और न ही इसकी संकरता ही कोई असाधारण बात है। नागरी प्रचारिणी सभा ने एक वैसा ही अन्य ग्रन्थ—परमाल रासो—प्रकाशित किया है, जो अपनी प्रकृति में ‘पृथ्वीराज रासो’ के सदृश है और इसकी भाषा भी वैसी ही मिश्रित है।^३

सामन्ती समाज में खण्ड-खण्ड कृषि-समुदायों के ऊपर बड़े भूस्वामी या जागीरदार और बहुधा उनके ऊपर राजा होते थे। इसी प्रकार कई छोटी-

१. सु० कु० चटर्जी—“इन्डोआर्यन एण्ड हिन्दी।”

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका।

३. देखिये वही।

छोटी बोलचाल की भाषाओं के ऊपर सामन्ती शासक और पुरोहित-वर्ग एक कृत्रिम उच्च-भाषा को विकसित कर लेते थे, जो उनके वर्गहितों के संरक्षण के काम आती थी। विभिन्न ऐतिहासिक और भौतिक परिस्थितियों और विभिन्न कालों में ऐसी विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ था। ङिगल भी ऐसी ही भाषा थी और किसी प्रकार भी यह नहीं प्रमाणित किया जा सकता कि वह बोलचाल की भाषा होते हुए आज की हिन्दी का पूर्वरूप थी।

प्राचीन हिन्दी के जो रूप या शैलियाँ हिन्दवी, साधु भाषा, सन्तबानी, भक्ति-काव्य इत्यादि कहलाते थे, वे वास्तव में एक समरूप भाषा नहीं थे। उस समय उत्तरीभारत की कई विभिन्न भाषाओं के लिए इन नामों का व्यवहार किया जाता था। इन शैलियों की उत्पत्ति ङिगल से भिन्न थी, इनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और ये जनता की बोलियों के अधिक सन्निकट थीं। भक्ति-साधना की यह भाषा व्यापार सम्बन्धी अर्थव्यवस्था के उस आदिकाल में अस्तित्व में आई जबकि मुद्रा-पण्य सम्बन्ध दृढ़ और प्रबल नहीं हुए थे और सामन्तशाही जनित पृथक्त्व अक्षुण्ण बना हुआ था। भारतवर्ष में वर्गों के ऊपर वर्गव्यवस्था की परत चढ़ जाने से सामन्ती जीवन अधिक कठोर हो गया था। व्यापारी-वर्ग में जब तक स्थानीय या उपजातीय हितों के स्थान पर जातीय या राष्ट्रीय भावना जन्म नहीं ले लेती और जब तक वे एक उपभाषा क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में सुगमतापूर्वक आने-जाने नहीं लगते, तब तक भाषा का सम्मिलन और एक व्यापक प्रामाणिक या राष्ट्रीय भाषा का उदय सम्भव नहीं हो सकता।

भारतीय इतिहास के उस काल में एक से दूसरे स्थान में बड़ी संख्या में भ्रमण करने वाले व्यापारी नहीं साधु और तीर्थयात्री होते थे। एक तीर्थ-स्थान से दूसरे में भ्रमण करते हुए ये साधु विचारों के आदान-प्रदान के लिए तथा अपने मत के प्रचार के लिए विभिन्न भाषाओं के कुछ सामान्य शब्दों एवं पदों और सरल व्याकरण के नियमों को चुन लेते थे और उस भाषा-सामग्री को जिस भाषा-क्षेत्र में जाते थे उसी के अनुसार प्रयोग करते थे। विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में थोड़ी बहुत समझ में आने वाली इस कृत्रिम भाषा में उन्होंने भजनों, दोहों इत्यादि की रचना की। कभी-कभी गुरु नानक की तरह उन्होंने कई बोलियों में रचनाएँ कीं या ऐसी भाषा में जिसमें आसानी से समझ में आने वाले शब्दों और पदों का व्यवहार तो किया जाता था किन्तु व्याकरण के नियमों को यथासम्भव त्याग दिया जाता था। उस काल के अधिकांश सन्तों-साधुओं ने काव्यभाषा में अपनी बोली के औरों के समझ

में न आने वाले तत्त्वों को छोड़ दिया और दूसरों के परिचित तत्त्वों को ग्रहण किया। बहुधा उन्होंने अपने भ्रमण के समय क्षेत्र की आवश्यकतानुसार अपने गीतों में परिवर्तन भी किया। कभी-कभी यह कार्य उक्त क्षेत्र में उनके शिष्यों द्वारा भी किया गया। इस दृष्टि से विचार करने पर श्री उदयनारायण तिवारी के इस अभियोग में अधिक तत्त्व नहीं मालूम होता कि अपने आदि-ग्रन्थ में संकलन करते समय सिक्ख गुरु ने कबीर के गीतों का पंजाबी रूपान्तर कर दिया था।^१ यथार्थ में उस काल के किसी भी सन्तकवि के बारे में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसने अपनी रचना उसी भाषा में की होगी जो इस समय हमें प्राप्त है।

अतएव इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि आदि-हिन्दी कई भेदों और शैलियों में वर्तमान थी तथा पंजाब, बिहार और महाराष्ट्र तक के क्षेत्रों में फैली हुई थी। इसमें यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि इन सन्तों की रचनाओं पर उन क्षेत्रों की भाषाओं का भी उतना ही दावा है जितना हिन्दी का। सिक्खों के आदि-ग्रन्थ में दर्जन से ऊपर ऐसे सन्तों के 'शब्द' दिये गए हैं और इनसे यह बात सिद्ध की जा सकती है कि आदि-हिन्दी के ये भेद कितने स्वतन्त्र और विशिष्ट हैं। उस काल में रचित कई 'भक्तमालाओं' से भी यह बात प्रमाणित की जा सकती है।

कबीर और नानक दो सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि हैं और उनकी भाषा, जैसी कि वह उपलब्ध है, खड़ी बोली के बहुत सन्निकट है। प्रसंगवश कबीर ने अपनी मातृभाषा को पूरबी कहा है। इन भाषाओं की सम्भाषणोत्तर प्रकृति स्वीकार की जा चुकी है। कबीर की भाषा पर श्री रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है : "कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से पुकारा जाता है। उसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी" (इनकी) भाषा मिली-जुली है। खड़ी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी) आदि कई बोलियों का मेल है। ब्रज-भाषा का पुट भी कहीं-कहीं मिलता है पर बहुत ही कम"^२। गुरु नानक की भाषा के मिले-जुले रूप की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है।

केवल शब्द-व्युत्पत्ति विषयक प्रमाण बहुधा आमक होते हैं और आदि-हिन्दी के कुछ व्याकरण रूपों के हमारी आधुनिक हिन्दी में मिलने से

१. उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी पर आकाशवाणी द्वारा प्रसारित वार्ता; 'हिन्दी की प्रादेशिक भाषायें' में संग्रहीत—पब्लिकेशन डिवीजन, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली।
२. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास—इण्डियन प्रेस, प्रयाग।

भारतीय भाषाविद् भ्रमपूर्वक यह विश्वास करने लगे हैं कि भक्तिकाव्य प्राचीन काल की भाषा की अन्तिम अवस्था की अपेक्षा नवीनकाल की हिन्दी भाषा का आरम्भिक रूप है। सामन्ती काल की साहित्यिक भाषा बहुत से मृत और अर्धमृत रूपों को बनाये रखती है, यहाँ तक कि सूर और तुलसी की रचनाओं में ही नहीं रीतिकालीन कविता में भी कुछ शब्द अपने अपभ्रंश रूप में मिलते हैं। भाषाओं की वृद्धि और उनमें परिवर्तन इतना धीरे-धीरे और इतने दीर्घ-काल में होता है कि आधुनिक भाषा से मिलते-जुलते व्याकरण और शब्दों के रूप आदि-हिन्दी से कई शताब्दियों पूर्व वर्तमान रहे हों, यह सम्भव है। आदि-हिन्दी में इन रूपों के वर्तमान होने से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि एक विशाल क्षेत्र के लिए, जिसे आज हिन्दी या हिन्दुस्तानी क्षेत्र कहा जाता है, सामान्य बोलचाल की भाषा का निर्माण होने लगा था। सन्त बानी में इन तत्त्वों की उपस्थिति की वजह केवल यह है कि सम्भाषणोत्तर भाषाओं को व्याकरण के रूपों को बोलचाल की भाषा से लेना पड़ता है, क्योंकि उनकी अपनी स्वतन्त्र व्याकरण-वृद्धि नहीं होती।

निर्गुण सन्तों की भाषा में खड़ी बोली के तत्त्वों की उपस्थिति तभी समझी जा सकती है जब उसका पूर्ववर्ती काल से सम्बन्ध ठीक तरह समझ लिया जाय। निर्गुण सन्त नाथपंथ की पूर्वजपरम्परा के उत्तराधिकारी थे। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक उस क्षेत्र में से थे जहाँ खड़ी बोली और पूर्वी पंजाबी की बोलियाँ प्रचलित थीं। नाथपंथियों के मठों, अखाड़ों और स्थानों में एक मिलीजुली कृत्रिम भाषा का व्यवहार होने लगा जिसमें मुख्य तत्त्व खड़ी बोली और पूर्वी पंजाबी के थे। यह इन सन्तों और उनके चेलों द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय और वादविवाद के लिए किया जाता था। ज्यों-ज्यों ये अखाड़े और स्थान खड़ी बोली तथा समीपवर्ती क्षेत्रों से भारत के अन्य भागों में फैलते गये, इस भाषा में भी क्षेत्र के अनुसार परिवर्तन होता गया, किन्तु खड़ी बोली के तत्त्वों की मुख्यतः प्रधानता बनी रही और उसी के व्याकरण के बुनियादी नियम स्वीकार किये गए।

मध्यकाल में समस्त विचारों और संघर्षों की अभिव्यक्ति धर्म के द्वारा होती थी। चूँकि समस्त सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों को धार्मिक ढाँचे में प्रकट होना पड़ता था, जनता भी अपने स्वार्थों को धार्मिक आवरण में प्रस्तुत करती थी। अतएव धर्म-संस्कार केवल दमन के लिए ही नहीं, विद्रोह और सत्ता-विरोध के लिए भी व्यवहृत होते थे। हम पहले देख चुके हैं कि कुछ धार्मिक रूपों का, दमन के विरोध में तथा उसका समर्थन करने वाले

समस्त धार्मिक विचारों के विरोध में, व्यवहार हुआ था। इनका पूर्व मध्यकाल में प्रमुख रूप त्याग और संन्यास था। भारतवर्ष में योगसाधना, जिसके राजयोग से हठयोग तक अनेक रूप थे, वैदिक पद्धति का उतना ही अंग थी जितना कि वेद-विरोधी अहिन्दू सम्प्रदायों की। एक में वह सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करता था तथा दूसरे में अन्याय के प्रति विरोध। साधारण जनता ने अपने सीधे-सादे ढंग पर उपरोक्त प्रणाली का विकास किया। कभी-कभी इन योगियों और हठयोगियों की साधना, विरोध के तीव्र तत्त्वों को ग्रहण कर लेती और वाममार्गी और तान्त्रिक सरीखे अराजकतावादी सम्प्रदायों के उपदेश इस सीमा तक पहुँच जाते कि : “जो कुछ ब्राह्मण के लिए धर्म है हमारे लिए अधर्म है और उनका अधर्म हमारे लिए धर्म है”। इन सहजयानियों, वज्रयानियों, मामियों, कापालिकों, चार्वाकों, अघोरियों इत्यादि के विरोध का रूप निर्गुण सन्तों ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया। उनके निर्गुण की कल्पना प्रथम सहस्राब्दी के कापालिकों आदि के निर्गुण शिव में खोजी जा सकती है। सन्तबानी में वे ही सिद्धों और नाथों की राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ मिलती हैं। सद्गुरु और सत्नाम के शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तान्त्रिकों आदि में समानभाव से मिलते हैं। यह परम्परा कैंसी विरूढ़ और अविभाज्य रूप से चली आई, यह इससे प्रकट होता है कि कबीर की उलटबांसियाँ नाथपन्थी योगियों, सहजयानियों और वज्रयानियों की वेशी रचनाओं से केवल स्वरूप में ही नहीं, सन्दर्भ में भी मिलती है। नाथपन्थियों और सहजयानियों ने इन्हें अर्ध-सहस्राब्दी पूर्व के विभाषक तथा अन्य बौद्ध सम्प्रदायों से लिया था। ये यूरोप के घृणित गीतकारों और ‘नामहीन आवारों’ के समान थे; वे जिस ‘ट्रोबरक्लस’ नाम की भाषा का व्यवहार करते थे उसका अर्थ भी अस्पष्ट रचना या विभाषा है।

निर्गुण सन्तों की मिली-जुली भाषा का सादृश्य यूरोप तथा भारत के अन्य भागों में भी मिलता है। उस काल में यूरोप के ‘परिभ्रमणकारी विद्वानों’ के गीतों का उल्लेख करते हुए श्रीमती हेलन वेन्डल^१ कहती हैं कि “उनके ठीक अध्ययन के लिए अपने संक्रान्ति काल में पाँच स्थानीय भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, यथा, प्रोवेन्स, मध्य-जर्मन, इटालियन, प्राचीन फ्रेंच, एंग्लो-नार्मन तथा मध्य-अंग्रेजी।” उन्होंने यह भी लिखा है कि इनमें सुन्दरतम गीतों की रचना तीन भाषाओं में एक साथ सर्वोत्कृष्ट रूप में हो रही थी। भारत में कबीर तथा कुछ और भक्त कवियों की रचनाओं के साथ भी ऐसा ही हुआ। भारत के अन्य भागों में

१. हेलन वेन्डल : वाण्डरिंग स्कॉलरस—पेंगुइन बुक्स, लन्दन।

भी ऐसी ही मिश्रित भाषाएँ प्रचलित थीं। बिहार और बंगाल के संतकवियों में 'पद' नामक अपभाषा प्रचलित थी। सहजयानी अपनी भाषा को सन्ध्या भाषा कहते थे और जिन्होंने इस भाषा का विस्तृत अध्ययन किया है उन्होंने यह कहा है कि इसका नाम इसके मिले-जुले स्वरूप का द्योतक है और यह आधी समझी जाती थी और आधी अटकल से जानी जाती थी।

सिद्धों की अनेक उलटबांसियाँ समय, स्थान और वैयक्तिक स्वभाव के अनुसार बहुत थोड़े से परिवर्तन के साथ भक्त कवियों के नाम से मिलती हैं। सन्तों के चेलों द्वारा मौखिक परिवर्तन के कारण भाषा-इतिहास सम्बन्धी कोई धारणा स्थिर करने के लिए, यह भाषा अत्यन्त अविश्वसनीय है। उनके बहुत से चेलों ने अपने नाम से न लिखकर गुरु के नाम से लिखा था। डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इंगित किया है कि कबीर तथा अन्य भक्त कवियों ने अपनी साहित्यिक और छन्दरचना की परम्परा ही नाथ-पंथियों या सहजयानियों से नहीं ली किन्तु उनके छन्द और दोहे शब्दशः ग्रहण किये। वही पद कभी कबीर-रचित कहा जायगा और कभी गोरखनाथ, दादू अथवा रैदास रचित।^१

यह उलझन उस समय और बढ़ जाती है जब १२ से १६वीं शताब्दी तक के समस्त निर्गुण और सगुण कवियों को हिन्दी के आदि और मध्य काल के भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत रखा जाता है। उनकी रचनाओं में कोई समान व्याकरण-नियम नहीं हैं तथा अनेक विषमताएँ हैं जो कि इन पाँच शताब्दियों में संघर्षरत विभिन्न वर्गों के भाग्य-परिवर्तन में भी प्रतिबिम्बित होती हैं। सामन्तीकाल में धर्म के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया जा चुका है। प्रथम, योगिक वैराग्य एवं संन्यास की भावना तथा सामाजिक दुर्गुणों से घृणा अथवा उनसे पृथक् या दूर रहना। दूसरा, उन दुर्गुणों को स्वीकार करना किन्तु भक्ति द्वारा उनसे उदासीन रहना और पलायन करना। तीसरा, कुछ सामाजिक दुर्गुणों के विरुद्ध विरोध करना या उनके सुधार के लिए आन्दोलन करना। धार्मिक विश्वासों के उक्त द्वितीय रूप का प्रतिनिधित्व पंचरात्र, भागवत, इत्यादि सम्प्रदायों ने किया था तथा इनके सर्वोच्च प्रतिनिधि १६वीं शताब्दी में कृष्ण-भक्त सूरदास हुए। धर्म का तीसरा स्वरूप अवैदिक तथा अहिन्दू विश्वासों में मुख्यतः विद्यमान रहा और उसे सिद्धों-नाथपंथियों के बाद कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों ने आगे बढ़ाया। कबीर के बाद धर्म के एक अन्य रूप को जन-प्रियता मिली। यह चतुर्थ रूप कुछ सामाजिक दुर्गुणों को ग्रहण करता था, कुछ की निन्दा करता था और एक साथ उनको स्वीकार और अस्वीकार

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य की भूमिका', तथा 'नाथ सम्प्रदाय'।

करता हुआ उन्हें ऐसा कुत्सित आधार मानता था जिसपर, दैनिक जीवन व्यतीत करते और सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए, आध्यात्मिक जीवन का निर्माण हो सकता है। इसके सर्वोच्च प्रतिनिधि तुलसी थे। इससे प्रतीत होगा कि सगुण कवियों तक में भी दो विचारधाराएँ थीं। इन भेदों को ग्रहण किये बिना, उनकी भाषा की प्रकृति तथा उनके उत्तरी भारत में आधुनिक भाषाओं के उद्गमन में अंशदान का समझना असम्भव है।

हिन्दी के मध्यकाल की प्रादेशिक भाषाएँ

हिन्दी की तथाकथित दूसरी अवस्था जिसे 'मध्य-हिन्दी' का नाम दिया जाता है १६वीं से १८वीं शताब्दी तक प्रचलित मानी जाती है और यह काल उसके साहित्य का सुवर्णकाल है। हिन्दी के आदि-काल की कई विभिन्न मिली-जुली भाषाओं में खड़ी बोली के तत्त्व खोजे जा सकते हैं, किन्तु हिन्दी के मध्य-काल में ऐसा नहीं है। उसमें कई भाषाओं का साहित्य सम्मिलित है, जिसमें किसी प्रकार का भाषा सम्बन्धी ऐक्य नहीं। यह साहित्य मुख्यतः रीतिकाल (ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी), कृष्णभक्ति धारा (ब्रजभाषा और राजस्थानी) और रामभक्ति धारा (अवधी और भोजपुरी) में है। ये भाषाएँ—ब्रज, अवधी राजस्थानी इत्यादि—आजकल हिन्दी की बोलियाँ मानी जाती हैं। प्रामाणिक या राष्ट्रीय भाषा एक जाति या उपजाति की भाषा की व्याकरण-पद्धति के आधार पर उठी और अन्य भाषाएँ, जिनके बोलने वालों से 'राष्ट्र' बना, उसी में एकाकार हो गई या मिल जुल गई। उसकी व्याकरण-पद्धति और शब्दों का आधार-समूह निरन्तर सशक्त, समृद्ध और विस्तृत होता गया और इस प्रकार कई बोलियों और छोटी भाषाओं के क्षेत्रों में एक प्रामाणिक भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी के विषय में यह कहा जाता है कि आदि-हिन्दी काल में प्राप्त किया हुआ खड़ी बोली का व्याकरण का ढाँचा, ब्रजभाषा और अवधी इत्यादि के लिए मध्य-हिन्दी काल में छोड़ दिया गया। राष्ट्रीय भाषा के लिए एक व्याकरण के ढाँचे को लेना और बाद में उसे सशक्त करने के स्थान पर कुछ शताब्दियों के लिए त्याग देना भाषा के इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। हिन्दी-भाषा के इतिहासज्ञों ने इसका कोई समाधान नहीं किया। इस काल में अवधी, ब्रजभाषा तथा अन्य भाषाओं का फलना-फूलना यह इंगित करता है कि पूर्ववर्ती काल में जब ऐसा समझा जाता था कि खड़ी बोली हिन्दी का इन क्षेत्रों पर आधिपत्य है, तब भी इतने विशाल क्षेत्र पर किसी बोल-चाल की भाषा का प्रारम्भ नहीं हुआ था। तुलसीदास ने अपनी भाषा को

‘भाखा’ कहा है और इससे उनका तात्पर्य अवधी से है। यह वह काल था जब ये वर्तमान बोलचाल की भाषाएँ जिनका क्षेत्र ब्रजभूमि, अवध, मिथिला, मगध, राजपूताना इत्यादि है, उपजातियों, सामन्ती राज्यों और जातियों की बोलियों के मिलने-जुलने से जन्म ले रही थीं।

उत्तरी, मध्य और पच्छिमी भारत के विशाल भू-भाग में—जिसे अब हिन्दी क्षेत्र कहा जाता है—ग्राम तौर से बोली जाने वाली समस्त उपभाषाएँ तथा बोलियाँ एक ही बोलचाल की भाषा के रूप में क्यों विकसित न हो सकीं और प्रादेशिक भाषाओं के सीमित क्षेत्रों ही में क्यों पनप सकीं, इसे अच्छी तरह ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों में राष्ट्रभाषा के उद्गम के कारणों की विवेचना कर ली जाय। उत्तरी भारत में उस समय वर्तमान भौतिक और आध्यात्मिक अवस्था की भी जाँच करनी होगी, ताकि यह निश्चय किया जा सके कि उसने किस प्रकार और किस परिमाण में भारत में भाषाओं के उद्भव और विकास पर अपना प्रभाव डाला।

पिछले अध्यायों में देखा जा चुका है कि वर्तमान भूभागों में गणों, कबीलों और जातियों के आकर बसने के समय से अब तक, निर्विवाद रूप से, बोलचाल की उपजातीय भाषाओं की परम्परा बराबर चली आ रही है। किन्तु जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ अपरिवर्तित नहीं रहीं। उनकी वृद्धि और समृद्धि और उनका सरलीकरण समाज के भौतिक उपकरणों के, परिणाम में नहीं तो स्वरूप में, समृद्ध होने के अनुसार होता गया। परन्तु यह भौतिक स्थिति ऐसी नहीं थी जो उन सब में सामान्य ऐक्य की रुचिका प्रदर्शन करती। इस देश में जिस प्रकार का सामन्तवाद था उससे समाज का गतिहीन होना स्वाभाविक था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सामाजिक जीवन में कोई उथल-पुथल नहीं हुई अथवा उत्पादन के साधन नितान्त अपरिवर्तनशील रहे। जब कभी नवीन प्रविधियों ने सामन्तायत्त कृषि के निम्न उत्पादन में वृद्धि की और विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में व्यापार को प्रोत्साहन दिया, तभी उपजातियाँ और उनकी भाषाएँ सन्निकट आने लगीं, किन्तु उन प्रवृत्तियों में विदेशी आक्रमणों, आप्रवासन और सामन्तों के गृहकलह से बाधा पड़ी और वे परावर्तित होती रहीं। जब कभी उदपायी साधनों और उपकरणों की कार्यक्षमता में कमी आती तो भाषा भी उसी क्रम से पतनोन्मुख हो जाती। भारतीय सामन्तवाद के जन्मजात दुर्गुणों के कारण नवीन यन्त्रों और उपकरणों का आविष्कार धीमा रहा किन्तु प्राचीन यन्त्रों को श्रेष्ठतर बनाने में बड़ा चातुर्य दिखाया गया और इस प्रकार भारतीय समाज धीरे-धीरे उच्चस्तर की ओर अग्रसर होता रहा और

आक्रमणों की पहुँच के बाहर के क्षेत्रों में यह प्रगति थोड़ी तीव्र रही। यद्यपि उस सामन्ती समाज का आन्तरिक संघर्ष कभी भी इतना प्रचण्ड न हुआ कि उससे विभाजित सामन्ती राज्यों के पृथक्त्व में कमी आती फिर भी उन क्षेत्रों में जहाँ भौगोलिक और ऐतिहासिक एकता थी और जहाँ मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक सादृश्य विद्यमान था, वहाँ उपजातियों और गण-गोत्रों का जातियों और क्षुद्र राष्ट्रों के रूप में संश्लेषण होता रहा। इन आन्तरिक संयोजनीय शक्तियों का प्रभाव उन सामन्ती राज्यों से विदित होता है जो ९वीं से १२वीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में विकसित हुए। जेजक भुक्ति (बुन्देलखण्ड) के कंडेले, गोरखपुर (केहल) छोटा नागपुर (देहल) और छत्तीसगढ़ (तुम्मन) के कलचुरि राज्य, पूर्वी राज-पूताना के कछवाहे, मालवा के परमार, अल्लिख पाटल (काठियावाड़) के चालुक्य, उत्तर-पच्छिम राजपूताने के चौहान, दक्षिणी राजपूताने के गुहिल, हरियाना के तोमर, पूर्वी अवध के गहरवार, दक्षिणी बिहार के पाल, दक्षिण-पच्छिम बंगाल के सेन और ऐसे ही अन्य राज्य जो इस काल में उदय^१ हुए इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि महाभारत, पुराणों और बौद्ध ग्रन्थों में तथा पाणिनि और कालिदास द्वारा उल्लिखित बहुत-सी प्राचीन उपजातियाँ और गण-गोत्र आपस में मिल कर नवोदित जातियों और क्षुद्र राष्ट्रों का रूप धारण कर रहे थे।^२

भाषाओं के विकास की अगली अवस्था, जिसमें जातियों की भाषाएँ मिलजुल और एक होकर आधुनिक राष्ट्रीय भाषाएँ बनती हैं, तब आती है जब छोटे-छोटे स्थानीय हाट मिलकर, अनेक जातीय क्षेत्रों में फैला हुआ एक राष्ट्रीय बाजार बन जाते हैं। यह तभी हो सकता है जब जातियों के पारस्परिक व्यापार में इतनी वृद्धि हो जाती है कि व्यापारी श्रेणियाँ स्थानीय या जातीय दृष्टिकोण छोड़कर राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करने लगती हैं और सामन्ती

१. दे०—एच० सी० रे : दि डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नर्दन इण्डिया, भाग १ और २।

२. 'नोट्स आन मेडिवियल मराठी लिटरेचर' में एस० ए० डांगे लिखते हैं : "स्थायी जातियों के तत्त्वों का जन्म ६०० ई० पू० और २०० ई० पू० के मध्य में खोजना चाहिये" (इण्डियन लिटरेचर नं० २)। किन्तु उस काल का उल्लेख करते हुए रिह्स डेविड्स कहते हैं : "देश अत्यन्त विशाल था। उसकी विस्तृत सीमा की अपेक्षा उसमें उपजातियाँ और गोत्र बहुत कम थे जो एक-दूसरे से चौड़ी सरिताओं और गहन वनों द्वारा अलग हो रहे थे। अतएव (उनको) स्वतन्त्र वृद्धि का पर्याप्त अवसर था।" (बुद्धिस्ट इण्डिया.)

पृथक्करण को तथा सामन्ती जीवन की कठोरता को समाप्त कर देती हैं।

भारतवर्ष में मुगल-साम्राज्य-काल में व्यापारी श्रेणियों ने नवीन स्थायित्व और जीवन प्राप्त किया। लोदी बादशाहों ने सड़कों को सुरक्षित और उन्नत किया और शेरशाह ने मुद्राप्रणाली में सुधार किया। अकबर के समय तक व्यापार करने वाली जातियों ने जो महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की वह उसके दरबार में टोडरमल की पदवी से स्पष्ट है।

पहले मुस्लिम आक्रमणकारी केवल लूटपाट करने के लिए आये थे। उन्होंने उत्पादी साधनों को बहुत क्षति पहुँचाई। उनके साथ लाये गये नवीन उपकरणों का लाभ तब प्रतीत हुआ जब भारत में मुस्लिम राज्य स्थिर रूप से स्थापित हो गया। गरम देशों में कृषि के लिए राज्य द्वारा व्यवस्थित सिंचाई के सार्वजनिक साधन आवश्यक होते हैं। उन की उपेक्षा के कारण कृषि को जोहानि हुई उसकी आंशिक पूर्ति तालाबों और कुओं से हुई, जो व्यक्तियों द्वारा धार्मिक कर्त्तव्य समझ कर बनाये गए। मंजनीक^१ के यन्त्र से आक्रमणकारी मुसलमान दुर्गों के भीतर पत्थर आदि फेंका करते थे; उसकी चरखी, कमानों और उत्तोलन-दण्ड ने सिंचाई और उद्योग के उपकरणों के सुधार में सहायता दी। रहंट का प्रयोग शुरू हो गया। घोड़े के आधुनिक कनपट्टे, कवच और नाल से भारत परिचित हो गया और परिवहन के लिए घोड़े का व्यवहार बढ़ता गया। सड़कों ने विभिन्न व्यापार-केन्द्रों को मिला दिया और कृषि अर्थ-व्यवस्था के सुचारु रूप से विकसित होने के कारण अतिरिक्त धन प्राप्त होने लगा, जो हस्तशिल्प, धन्धों और दस्त-कारियों का आधार बना और उन उद्योगों का विकास हुआ जिनका आधार मुख्यतः कृषि उत्पादन का उपयोग था। इस प्रकार बोलचाल की भाषाओं का युग-युगान्तर का अलगाव शेरशाह और अकबर के समय से पूर्व ही कम होने लगा था।

अकबर का राज्य “व्यापारियों और जमींदारों का साम्राज्य” था। अकबर ने व्यापारिक क्रियाकलाप में सक्रिय रुचि ली। बी० ए० स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अकबर स्वयं व्यापारी था और वाणिज्यिक लाभों को प्राप्त करने में अभिरुचि रखता था।^२ सूरि बादशाहों से प्राप्त राजस्व

१. प्रो० महमूद ख़ाँ शेरवानी ने इस विषय पर पर्याप्त अनुसन्धान किया है, किन्तु वे भी मंजनीक की बनावट के बारे में मुस्लिम इतिहास-लेखकों की कृतियों में कुछ पता नहीं लगा सके (दे० पृथ्वीराज रासो : अंजुमन ए तरक्की उर्दू)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मंजनीक बहुत-कुछ यूरोपीय कंटापुल्ट के समान था।

२. बी० ए० स्मिथ : ‘अकबर दि ग्रेट मग़ल’

और प्रशासन-प्रणाली में सुधार किया गया। समस्त राज्य में एकसी मुद्रा-प्रणाली का प्रचलन किया गया और टकसाल पर राज्य-नियन्त्रण कर दिया गया। जागीरें देने की अपेक्षा अपने मनसबदारों को रोकड़ देने की नई प्रथा से सामन्ती सम्बन्धों को बड़ा धक्का पहुँचा।

शाहजहाँ ने नील और शोरे के व्यापार पर एकाधिकार कर रखा था। नूरजहाँ कसीदे के कपड़े का व्यापार करती थी और उसके पिता, अन्य राजदर-बारी तथा शाहजादे भी व्यापार में हिस्सा लेते थे। आगरे से इंग्लैंड को जो सूती कपड़ा निर्यात होता था वह सन् १६३८-३९ में २८२३ थानों से १६४०-४१ में २३५५० थान हो गया। आगरा, जो पहले शोरा, इमारती पत्थर और लोहे का केन्द्र था, विकास करता-करता सूती व्यापार की बड़ी मण्डी भी बन गया। अकबर और जहाँगीर द्वारा इस नगर तथा पड़ोस के फतेहपुरी को राजधानी के रूप में विकसित किये जाने के कारण आगरे की जनसंख्या बढ़कर १६४० में ६ लाख हो गई। उस समय सम्भवतः यह संसार का सबसे बड़ा नगर था।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस काल में प्रामाणिक भाषाएँ छोटे पैमाने पर क्यों विकसित हुईं और संश्लेषण द्वारा उस समस्त प्रदेश के लिये जिसे अब हिन्दी-क्षेत्र कहा जाता है क्यों एक भाषा न बन सकीं तथा पंजाब, दकन और गुजरात जो इस क्षेत्र से व्यापार द्वारा ग्रथित थे, क्यों इसी क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आये। इंग्लैंड तथा अन्य देशों से होने वाले सूती व्यापार के गुजरात से आगरा चले जाने पर भी वह गुजरात के पत्तनों द्वारा ही होता रहा। लाहोर घोड़े के व्यापार का और प्रसिद्ध शाल-उद्योग का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। अब वह मध्य और पश्चिम एशिया के व्यापार-मार्ग पर था, जो इससे पहले मुलतान अथवा सियालकोट से होकर जाता था। इस प्रकार वह आगरे ही के समान विकसित होकर वैभवशाली और जनसंकुल नगर बन गया था। जहाँगीर और नूरजहाँ ने अपने मकबरों के लिए इसी स्थान को चुना और यह शक्तिशाली मुगल शाहजादों का निवासस्थान बन गया। उस काल में इसके आगरा और दिल्ली के व्यापारिक केन्द्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

अकबर के समय भारत में व्यापारिक अर्थव्यवस्था का प्रौद्योगिक आधार यूरोप की अपेक्षा बहुत निम्न था। मुगलकाल में “यूरोपीय यात्रियों ने सड़कों की खराबी की ओर संकेत किया है जो उस काल के निम्न पश्चिमी (यूरोपीय) प्रमाण के अनुसार भी अत्यन्त कष्टदायक थीं^१।” नदियाँ चौड़ी और बिना पुलों के थीं और मैदान घने जंगलों से भरे हुए थे। इस बात का प्रमाण यह है कि

“मुगल सेनाओं को ओरछा में बहुत ही घने जंगल मिले जिन्हें साफ़ करने के लिए उन्हें विशेष कारवाई करनी पड़ी” ।

मुगल काल की नई समृद्धि भी बहुत देर तक नहीं चली और अभी पनपने ही पाई थी कि उसे धक्का पहुँचा और वह जहाँ की तहाँ रह गई । मनसबदार फिर जागीरदार हो गये । शाहजादों के पारस्परिक युद्ध और फिर से सिर उठाने वाली जातियों से युद्ध के साथ-ही-साथ इन मनसबदारों की अधिकार-लिप्सा भी बढ़ गई । पिछले मुगलमान बादशाहों से पूर्व तथा उनके समय में भूमिराजस्व उत्पादन का छठा भाग था । अकबर के समय में यह तिहाई हो गया और बाद के मुगलों के समय में आधा । यह कृषि पर बड़ा भारी बोझ था । इसके अलावा उसे निरन्तर युद्ध और सेनाओं की आवाजाही से और भी हानि हुई । सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और सतरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कारखाने समृद्धि के केन्द्र बन गये । किन्तु बाद में अत्याचारी अधिकारियों द्वारा प्रत्येक वस्तु सस्ती दर पर लेने और किसी वस्तु का मूल्य ठीक चुकता न करने के कारण, उनका ह्रास हो गया । स्थानीय फौजदार द्वारा जब्त किए जाने के डर से वाणिज्य में धन को लगाने की अपेक्षा व्यापारी उसे छिपाने के लिए बाध्य हो गये । मुख्य मार्गों के निरापद न रहने से विशाल पैमाने की वाणिज्यिक क्रियाशीलता बिल्कुल बन्द हो गई । बार बार दुर्भिक्ष पड़ने लगे और व्यापार पर उनका भीषण प्रभाव पड़ा । नील जो मुख्य निर्यात की वस्तुओं में से एक था, अप्राप्य हो गया । सूत का मूल्य चढ़ गया और सोने का गिर गया । ग्राम उद्योग बिल्कुल समाप्त-प्राय हो गये और बहुत सी बातों में भारत अकबर के समय की अर्थव्यवस्था की अपेक्षा निम्नस्तर पर पहुँच गयी । बरनियर ने कला-कौशल के पतन पर और देश की अराजकता की दशा पर विस्तारपूर्वक लिखा है । यह समस्त व्यापार और वाणिज्य के प्रतिकूल थी । इसकी ओर संकेत करते हुए प्रो० जदुनाथ सरकार ने लिखा है : “इस प्रकार भारत में आर्थिक दरिद्रता आई—राष्ट्रीय ‘भण्डार’ ही में कमी नहीं हुई, किन्तु यांत्रिक चातुर्य और सभ्यता के प्रमाण में शीघ्रगामी पतन हुआ—देश के विस्तृत भूभाग से कला-कौशल और संस्कृति लोप हो गई ।”^१

किसी विशाल पैमाने पर प्रामाणिक या टकसाली भाषाओं के प्रादुर्भाव के लिए वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था और मध्यवित्त श्रेणी के व्यापारी लोगों का पर्याप्त मात्रा में विकास अनिवार्य होता है । मुगलकालीन भारत में यह कितना

१ के० एम० परियक्कर : ज्याग्राफिकल फैक्ट्स इन इण्डियन हिस्ट्री ।

२ जे० एन० सरकार : हिस्ट्री ऑफ़ औरंगजेब ।

कठिन था इसका उल्लेख कार्ल मार्क्स ने भी किया है। अपने लेख “ब्रिटिश रूल इन इण्डिया” में उन्होंने लिखा है: “भारतवर्ष के पिछले राजनीतिक पहलू कितने ही परिवर्तनशील क्यों न दिखाई पड़ें, उसकी सामाजिक स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक अतीत प्राचीनकाल से अपरिवर्तनशील रही है।”

मुगलकाल का उल्लेख करते हुए रामचरितमानस की लम्बी भूमिका में, ए० बरन्निक्व ने तुलसीदास के समय को, “भारत की पाँच शताब्दियों की दरिद्रता में क्षणिक विराम” कहा है। मुगलकालीन आर्थिक दशा का जिक्र करते हुए श्री भवानी सेन कहते हैं:

“(भारत में) १७वीं शताब्दी में ‘एशियाई निरंकुशता’ का अत्याचार एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि पर हो रहा था जो उसी युग की यूरोपीय व्यवस्था से भिन्न थी। उदाहरण के लिए इंग्लैंड उस समय मुद्रा अर्थव्यवस्था और उत्पादन के तीव्र विस्तार, व्यापारी वर्ग के स्वामित्व में पूँजी के आद्य-संकलन, और परिणामतः नये पूँजीवादी वर्ग के विकास में आगे बढ़ रहा था। १६वीं शताब्दी के पश्चात् यूरोप के महाद्वीप में, विशाल कृषक क्रान्तियों द्वारा आई हुई नवजागृति ने पुनर्जागरण-काल (रिनेसाँ) को नया बल दिया और सामाजिक सम्बन्धों में नवीन मूल्य प्रदान किया। इस प्रकार वहाँ औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवाद के विकास के लिए मंच तैयार हो रहा था और सामन्ती व्यवस्था का, उसी के गर्भ से उत्पन्न नवीन विरोधी शक्तियों के कारण, पतन हो रहा था। किन्तु भारत में, ‘एशियाई पद्धति’ के चौखटे के अन्दर सब विकास हो रहे थे। उद्योग और कृषि की एकता बनी रही (किसान और शिल्पी एक ही होता था), गाँव एक प्रकार से आत्मनिर्भर इकाइयाँ थीं और इस स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था को संरक्षित कर सामाजिक प्रगति पर अंकुश लगाये हुए थे।

“मुद्रा-अर्थव्यवस्था की वृद्धि, माल के उत्पादन की सापेक्षिक प्रगति और कृषकों पर सामन्ती निरंकुशता के होते हुए भी सामाजिक आधार हड़ बना रहा; प्राचीन सम्बन्ध, जैसे वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, प्राचीन काल के उपजातीय संगठन इत्यादि, विलुप्त नहीं हुए, किन्तु अपरिवर्तनशील गाँव के हृदय में निरन्तर वास करते रहे। यूरोप के नये अत्याचारी साढ़सी व्यापारी के विपरीत भारतीय अत्याचारी धन का नहीं, भूमि सम्पत्ति का इच्छुक था। हजारों वर्ष की सामाजिक व्यवस्था में मुसलमानों का शासन कोई मूल परिवर्तन न कर सका।”

१. भवानी सेन, “इण्डियन लैण्ड सिस्टम एण्ड लैण्ड रिफार्म” — पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

उक्त विचारों से प्रतीत होगा कि ऐसी भौतिक परिस्थितियों का अभाव था जिनसे हिन्दी क्षेत्र के लिए बड़े पैमाने पर एक प्रामाणिक भाषा अंकुरित हो सकती। इन परिस्थितियों में बोलचाल की भाषाएँ बहुत छोटे पैमाने पर ही संश्लिष्ट हो सकती थीं।

बहुत सी प्रौद्योगिक सफलताएँ, जिन्होंने पश्चिमी यूरोपीय सामन्ती समाज के गर्भ से पूँजीवादी सम्बन्धों को जन्म दिया, भारत में बिल्कुल नहीं हुईं। वहाँ पुनर्जागरण-काल की ओर अग्रसर होने और उसके पश्चात् औद्योगिक क्रांति की ओर उन्मुख होने के पूर्व, कई शताब्दियों तक निर्बाध वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ और प्रविधियों का स्तर निरन्तर ऊँचा होता रहा। इतना होते हुए भी पश्चिमी यूरोप के वे देश, जो पहले लैटिन द्वारा आच्छादित थे, क्षेत्रफल तथा जनसंख्या में उत्तरी भारत से बहुत कम होने पर भी, एक भाषा और एक राष्ट्रीयता का विकास न कर सके और दर्जनों भाषाओं और राष्ट्रों में विकसित हुए।

यूरोप में आर्थिक विकास तीन अवस्थाओं में हुआ। हस्तशिल्प या कृषि-व्यवसाय पर मुख्यतः आश्रित छोटे व्यापारिक पदार्थों का उत्पादन, फिर पूँजीवादी कारखाने और तत्पश्चात् विशाल पैमाने पर फैक्टरियों द्वारा उत्पादन। भारत में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था पहली अवस्था के आगे विकसित न हो सकी थी, और इसमें भी सरकारी कारखानों ने, जो अर्धदासों के श्रम से चलाये जाते थे, व्यापारिक निगमों के प्रभाव को बढ़ने न दिया था। यह कहना गलत है कि मुगल काल में भारत में नागरिकों का मध्यवर्ग राष्ट्रीय पैमाने पर विकसित हो गया था। मुगल निरंकुशता ने ग्रामों की आत्मनिर्भरता, वर्ण-व्यवस्था, निम्न वर्णों की वास्तविक दासता, इत्यादि उन प्राचीन सम्बन्धों को तो बिल्कुल छुआ ही न था जो भारतीय सामन्तशाही में जमकर ठोस हो गये थे।

एक और बड़ी भारी कमी यह थी कि मुगल निरंकुशता वास्तव में राष्ट्रीय न थी। अकबर ने, जो मुगल शासकों में सबसे अधिक भारतीय था, फारसी को राज भाषा के रूप में आसीन किया^१। यह घटना अर्थगर्भित है कि उसने पानीपत की विजय के बाद हेमू के बटे शीश को काबुल में प्रदर्शन के लिए भिजवाया था। पश्चिमी यूरोप के राज्यों की तरह मुगल राज्य एक राष्ट्रीय राज्य न था। यह बहुत-कुछ पूर्वी यूरोप के उसी काल के तुर्की साम्राज्य

१. के० एम० परिष्कर: “भारत के मुगल सम्राट फारसी संस्कृति के प्रतीक हो गये; वे नौरोज परम्परागत धूमधाम से मनाते थे। उन्होंने कला में फारसी प्रविधियों को प्रोत्साहन दिया” (ज्योग्रेफिकल फेक्टर्स इन इंडियन हिस्टरी)

की तरह बहु-जातीय राज्य था, और अधीन उपजातियों और जातियों के क्रूर दमन पर आधारित था। राष्ट्रीय भाषाओं पर इसके घातक प्रभाव की विवेचना करते हुए प्रो० डब्लू० आर० लाकवुड कहते हैं : “बैजन्टियम का पतन १४५३ में हुआ, किन्तु अधिकांश ग्रीक इसके पूर्व ही ओटोमान राजाधिराजों के सम्मुख झुकने को बाध्य हुए। इस प्रकार, जब आधुनिक परिभाषा के अनुसार इटली और फ्रांस राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो रहे थे तब ग्रीस तुर्की की दासता में शक्तिहीन पड़ा था, तथा राजनीतिक दासता के कारण उसकी राष्ट्रीयता की प्रगति में सख्त रुकावट आ गई थी”।^१

एक और कारण, जिससे समस्त हिन्दी क्षेत्र के लिए एक सामान्य भाषा विकसित न हो सकी थी, यह था कि राष्ट्रीय भाषाओं और जातियों के उद्भव के लिए अन्य देशों में जिन प्रभावों ने योग दिया वे यहाँ, उस प्रयोजन के लिए पर्याप्त मात्रा में, क्रियाशील न हो सके। लन्दन, पेरिस तथा पच्छिमी यूरोप की अन्य राजधानियों ने निकटवर्ती क्षेत्रों की ही नहीं, दूर प्रदेशों की भी जनता को अपनी ओर खींचकर उसकी उपभाषाओं और बोलियों के एकीकरण में योग दिया। इस प्रकार इन नगरों में देश के विभिन्न भागों से आ बसने वालों की बोलियाँ परस्पर आदान-प्रदान से मिलजुल कर एक हो गईं। परिणामतः इन महान नगरों की जनता ऐसी भाषा बोलने लगी, जो उस प्रदेश की भाषा से भिन्न थी जिसमें वह नगर स्थित था। ओटो जसपरसन ने १८६० की जन गणना से दिखाया है कि कोपेनहेगेन नगर^२ के अधिकांश निवासी कोपेनहेगेन में या उसके निकट पैदा नहीं हुए थे। इन राजधानियों ने उस आवर्तनी का काम किया जिसमें ऐतिहासिक, भावात्मक और मनोवैज्ञानिक अनुरूपता के कारण एक सामान्य राष्ट्रीय जीवन की ओर उन्मुख हो रही जातियों और उपजातियों की भाषाएँ घुलमिल कर एक हो गईं। अन्य सहायक प्रभाव थे—राजनीतिक एकता, सामान्य सैनिक सेवा, जनप्रिय धार्मिक तथा अन्य त्योहार और नाटक। सामान्यतया समझी जानेवाली रंगमंच की जर्मन उपभाषा का अपना नाम था—“बुहन्यूडिश”। जर्मनी में तथा कुछ अन्य देशों में, जहाँ वाणिज्यिक समृद्धि देरी से आई, धर्म ने अत्यन्त प्रभावशाली कार्य किया। लूथर (१४८३-१५४६ ई०) द्वारा व्यवहृत भाषा किसी प्रदेश की स्थानीय बोली न थी। वह मध्य और दक्षिणी जर्मनी के मुख्य राज्यों

१. देखिए—लेग्वेज एंड दि राइज़ ऑफ दि नेशन—साइंस एंड सोसाइटी—संख्या १८ नं० ३—१९५४।

२. ओटो जसपरसन, ‘फोनेटिक’

के दरबार और शासन की भाषाओं पर आधारित थी और उसमें स्वाबियन, आस्ट्रियन और अन्य बोलियों के तत्त्व थे। धर्म सुधार और राजनीतिक विद्रोह के आन्दोलनों ने लूथर की इस बाइबिल को नवीन प्रोत्साहन दिया। मुद्रण की नवीन कला से सशक्त होकर वह देश के समस्त भागों में और समस्त वर्गों में पहुँच गई। रूस में भी रूसी राजधानी को मास्को स्थानान्तरित करने से, रूसी भाषा और संस्कृति के समन्वय का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ।

मुगलकाल में, उस समय भी जब वाणिज्य और व्यापार पूर्णतया विकसित हो चुका था। दिल्ली राजधानी न थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अकबर और जहाँगीर के समय में सर्वाधिक व्यापक भारतीय भाषा खड़ी-बोली-हिन्दी नहीं थी किन्तु आगरा के आसपास की ब्रजभाषा^१ थी। अकबरकालीन दिल्ली की गणना मार्क्स^२ ने उस समय के संसार के सबसे बड़े नगरों में की है। उसकी जनसंख्या प्रत्येक शताब्दी के बाद कम होती गई, क्योंकि अकबर और शाहजहाँ के समय की अल्पकालीन वाणिज्यिक समृद्धि के निरन्तर ह्रास के कारण व्यापारियों की संख्या घटती जा रही थी। नादिरशाह के आक्रमण (१७३६) और ग़दर (१८५७) के कुप्रभावों से यह नगर फिर कभी न पनप सका, यहाँ तक कि द्वितीय विश्वमहायुद्ध के पूर्व १९३६ में यह एक छोटा-सा नगर था जिसकी जनसंख्या तीन लाख थी, जो अधिकतर 'पुरानी दिल्ली' में रहती थी और जिसकी बोलचाल की भाषा आधुनिक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट थी। वह विशुद्ध खड़ी बोली पर आधारित थी और उसमें किसी भी निकटवर्ती उपभाषा का योग नहीं था।

यह विश्वास भ्रामक है कि राजधानी की भाषा स्वयं अन्य क्षेत्रों की भाषाओं को समाप्त कर देती है और इस तरह उनका स्थान लेकर राष्ट्रीय भाषा बन जाती है। यह किसी भी भाषाशास्त्रीय साक्ष्य से सिद्ध नहीं किया जा सकता। राजधानियों की आवर्त्तनी में जिस सामान्य भाषा का निर्माण होता है वह एक उपभाषा के स्कन्ध पर अन्य बोलियों के एकीकरण का परिणाम है जिससे किसी एक बोली की व्याकरणीय पद्धति और बुनियादी शब्द-भण्डार में अन्य बोलियों की शब्दावलियाँ मिल जाती हैं। इस भाषा के उच्चतम रूप को बनाने के लिए छोटी भाषाएँ और बोलियाँ अपने भाग का अंशदान देती हैं।

१. 'इण्डो-आर्यन् एण्ड हिन्दी' में सुनीति कुमार चटर्जी लिखते हैं कि अकबर ने ब्रजभाषा में पद्यरचना की, और 'इण्डोआर्य' भाषाओं में यदि कोई बादशाही बोली के नाम से पुकारी जा सकती है तो वह वास्तव में ब्रजभाषा थी।
२. कार्ल मार्क्स: 'क्रानोलाजिकल नोट्स ओन दि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।'

उत्तरी भारत में भाषाओं के मिलकर एकाकार होने के लिए दिल्ली एक घरिया का रूप धारण न कर सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस समस्त क्षेत्र के लिए सूरदास और तुलसीदास को अपने माध्यम के लिए कोई सामान्य बोलचाल की भाषा न मिल सकी। अतएव उन्हें उन भाषाओं में लिखना पड़ा जिनमें खड़ी बोली के व्याकरण के कोई भी तत्त्व नहीं थे। अतएव 'सूरसागर' और 'रामचरित मानस' समस्त उत्तरीभारत के लिए एक सामान्य भाषा विकसित करने का कार्य भी न कर सके जैसा जर्मनी में लूथर की बाइबिल ने किया।

एक विशिष्ट कारण, जिसने हिन्दी क्षेत्र में बसने वाली जातियों और उपजातियों की भाषाओं को एकाकार होने से रोका, यह हो सकता है कि इस विशाल क्षेत्र के लोगों में कभी भी भावात्मक और सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न नहीं हो सका था और न ही उनमें कभी दृढ़ मनोवैज्ञानिक और मानसिक अनुरूपता विकसित हुई थी। इन तमाम शताब्दियों में हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न लोगों के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक भूतकाल की ओर देखने से यह स्पष्ट हो जायगा।

हिन्दी क्षेत्र के लोगों का या उत्तरप्रदेश का कोई सामान्य इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ और यहाँ के प्राचीन लोगों के दो या तीन सहस्राब्दियों के पिछले इतिहास की जानकारी के लिए इधर-उधर बहुत-सी बिखरी सामग्री ढूँढ़नी पड़ती है। यह कितनी अनहोनी बात है कि 'हिन्दी-भाषी राष्ट्र' को, जिसने जापान को छोड़कर एशिया-भर में सबसे अधिक औद्योगिक उन्नति की और सर्वोच्च शक्तिशाली मध्यवर्ति वर्ग को जन्म दिया, अपने इतिहास की भी जानकारी नहीं। एक शताब्दी से अधिक काल से पूँजीवादी सम्बन्ध हमारी सामाजिक पद्धति में पनप रहे हैं तो भी यदि आप हिन्दी क्षेत्र के किसी व्यक्ति से यह कहें कि उसका 'राष्ट्र' सकल-भारत न होकर केवल हिन्दी क्षेत्र तक ही सीमित है तो उसे यह समझाना सरल न होगा कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है।

इससे यह सिद्ध होता है कि आज तक समस्त हिन्दी-क्षेत्र के लिए सांस्कृतिक, मानसिक और भावात्मक ऐक्य उत्पन्न नहीं हो सका है, जिसके बिना एक सामान्य भाषा का विकसित होना बहुत कठिन है। अपने को उत्तर-प्रदेश में सीमित रखने से इस समस्या पर अच्छी तरह प्रकाश डालने में आसानी होगी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद (आगरा व अवध के) संयुक्त प्रान्त के स्थान पर कोई और नाम खोजने के लिए यू० पी० की विधान सभा में बड़ा रोचक वाद-विवाद हुआ था। उत्तर प्रदेश नाम रखने से पूर्व बीसियों नामों का सुझाव दिया

गया था और हमारे सामने एक ऐसे 'राष्ट्र' का दृश्य उपस्थित हुआ जिसका कई हजार वर्षों का प्राचीन इतिहास है तथा जो कई सभ्यताओं का अभिगृह होते हुए भी, अपना कोई लक्षण न खोज सका।

उत्तरप्रदेश की अधिकांश जनता अवधी या ब्रजभाषा बोलती है। उसने रामायण और महाभारतकाल के बाद से अब तक किसी भावात्मक और मनो-वैज्ञानिक समजातित्व का अथवा संस्कृति की समरूपता का विकास नहीं किया। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि तुलसी ने अपने रामचरितमानस की रचना अवधी में और सूर ने अपने सूरसागर की रचना ब्रजभाषा में की। ब्रज और अवध के परस्पर सम्बन्धित पड़ोसी लोगों की संस्कृतियों में सादृश्य के तत्त्व बहुत अधिक हैं। किन्तु केवल सामान्य तत्त्वों पर जोर देने से तथा दो हजार वर्षों की सांस्कृतिक और भावात्मक विशिष्टताओं से आँख मूँद लेने से तो बहुत से आधुनिक 'राष्ट्रों' का अस्तित्व ही जाता रहेगा।

जहाँ तक इतिहास का सम्बन्ध है ऐसा लगता है कि अवध और ब्रज-भूमि के लोग कभी भी लम्बे अरसे के लिए ऐतिहासिक एकता प्राप्त नहीं कर सके। आन्तरिक संश्लेषण की शक्तियाँ कभी भी इन प्रतिवेशी लोगों को एक सामान्य जीवन में ग्रथित करने में समर्थ न हो सकीं। बौद्धधर्म का प्रवाह मगध से आया और बाद में मौर्य-वंश का उत्थान पटना से हुआ। मौर्यकाल के बाद ब्रज भूमि में शौरसेन तथा अवध में कोशल राज्य थे। उस काल की मुद्राओं से यह प्रतीत होता है कि शौरसेन के शासक हिन्दू थे और कोशल के बौद्ध। तत्पश्चात् पच्छिम से कुशन आये और मथुरा में कनिष्क का शासन हुआ जो पालि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसके बाद फिर मगध से गुप्तवंश प्रारम्भ हुआ, हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म को आच्छादित कर लिया और संस्कृत ने प्राकृतों को एक ओर धकेल दिया। छठी शताब्दी में अवध में, जहाँ जंगलों का विस्तार हो गया था, छोटे-छोटे सामन्त उदय हुए जो अपने को मौखारी कहते थे। सातवीं शताब्दी में थानेश्वर से हर्षवर्धन ने आकर शौरसेन भूमि में राज्य स्थापित किया जिसमें कुछ काल तक अवध के कुछ भाग भी थे। आठवीं शताब्दी में और उसके बाद मुसलमानों के आगमन तक, राजपूताना और मालवा से गुर्जर-प्रतिहारों ने कन्नौज में अपना राज्य स्थापित किया जिसमें अवध साधारणतः नहीं था। मुसलमानों के अवध और ब्रज में अलग राज्य थे। ब्रज को वे 'आगरा सूबा' कहते थे। जब अंग्रेजों ने इन दो क्षेत्रों को मिला दिया तब वे इसका नाम 'यूनाइटेड प्रोविंसिस (संयुक्त प्रान्त) आव आगरा ऐंड अवध' के अतिरिक्त और कुछ न चुन सके।

कोई भी शताब्दी ऐसी नहीं जिसमें इन प्राचीन और अमर जातियों ने दमन के विरुद्ध विद्रोह न किया हो और विरोध^१ के नये रूपों का उद्‌विकास न किया हो। इनका स्वरूप चाहे धार्मिक या अन्य कुछ भी रहा हो किन्तु ये अवध और ब्रज के लोगों में कदापि सामान्य नहीं रहे, यहाँ तक कि इन दोनों क्षेत्रों में सगुण भक्ति भी दो विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई। इन लोगों की वीरता और शौर्य के कार्यों ने इनकी संस्कृति में स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है। इनकी भाषाओं तथा बोलियों में इनके वीरों के बारे में अलग-अलग गीत और कथाएँ हैं। किन्तु समस्त उत्तर प्रदेश या हिन्दी-क्षेत्र की जनता के हृदय को स्पर्श करने वाली किसी गाथा, कथानक या लोकगीत का प्राप्त करना कठिन है। यदि उन सबमें सांस्कृतिक एकता उत्पन्न हो चुकी होती तो ऐसा अवश्य होता। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संघर्ष में भी इस तरह की जातीय एकता की भावना के दर्शन केवल अवधी, बुन्देली इत्यादि में हुए। इस पर ध्यान आकर्षित करते हुए मार्क्स ने कहा है कि कम्पनी की सेना में “अवध के ४०,००० सिपाही थे जो जाति और राष्ट्रीय एकता द्वारा परस्पर सम्बन्धित थे; यह समस्त सेना एक-भावनाबद्ध थी; यदि अधिकारी किसी एक टुकड़ी की भावना को चोट पहुँचाता था तो उसे सब अपना अपमान समझते थे।”^२

यहाँ उन पार्थिव शक्तियों की विवेचना करने की आवश्यकता नहीं, जिनके कारण हमारे इतिहास में ये विशिष्टताएँ बनी रहीं। किन्तु यह स्पष्ट है कि जब कभी विदेशी विजय के संघातबल में ढील पड़ी तब उत्तर प्रदेश की जनता ने कभी भी एकता की भावना प्रदर्शित नहीं की, किन्तु यह उन क्षेत्रों के लोगों में ही लक्षित हुई जिन्होंने उन सामान्य भाषाओं को विकसित किया जो आज-कल हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ कही जाती हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो ‘जनपद आन्दोलन’ के जन्मदाताओं में से हैं, अपने घोषणापत्र “जनपद-योजना” में यह सिद्ध किया है कि इन प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्रों में शतशत वर्षों पीछे की संस्कृति और इतिहास है। उन्होंने मार्कण्डेय तथा कई पुराणों को उद्धृत करते हुए यह दिखाया है कि जनसाधारण ने इन प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्रों में आज तक उन समस्त सांस्कृतिक विशिष्टताओं को स्थिर बनाये रखा है।

अवधी भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि

१. अयोध्या के धर्मस्थानों के मुसलमान नवाबों के अधिकार में चले जाने पर अवध के किसानों के बार बार जो विद्रोह हुए उनका थोड़ा सा वर्णन मौलाना मुहम्मद नजमुलसानी खां लिखित ‘तारीख अवध’ में उपलब्ध है।
२. कार्ल मार्क्स : ‘क्रानोलाजिकल नोटस ऑन दि हिस्टरी ऑव इण्डिया’।

गण-गोत्रों, उपजातियों तथा जातियों की भाषाओं और बोलियों ने संश्लिष्ट और विकसित होकर कैसे आधुनिक अवधी भाषा का रूप धारण किया है। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद आधुनिक अवधी भाषा की कई बोलियाँ अवध के अन्तर्गत उपजातियों और नवोदित जातियों के भाग्य के साथ उभरती और गिरती रहीं। मुगलों के आगमन के ठीक पूर्व बैसवाड़ी बोली को प्रमुख पद प्राप्त था। इसी बोली में जगनिक तथा अन्य आल्हे लिखे गये जो उस काल में तथा उसके बाद भी समस्त उत्तरी भारत में जनप्रिय रहे। अवधी की किसी अपभ्रंश भाषा का पता नहीं चलता। इसका कारण यह नहीं कि आधुनिक अवधी भाषा किसी पूर्व रूप में उस समय विद्यमान न थी वरन् यह कि अवध में तब विभिन्न उपजातियों और सामन्ती इलाकों की अपनी-अपनी उपभाषाएँ थीं और ऐसा विशाल राज-दरबार अस्तित्व में नहीं आ सका था जहाँ इन उपभाषाओं का कृत्रिम या स्वाभाविक सहमिलन हो सकता। आचार्य शुक्ल ने 'बुद्धचरित' की भूमिका में अवधी के अनेक पदों को नागर अपभ्रंश के उदाहरणों से निकाला है और कुछ और विद्वान् अर्धमागधी अपभ्रंश की कल्पना करते हैं, क्योंकि अवध शौरसेन और मगध के बीच है और शौरसेनी और मागधी प्राकृतों के साथ-साथ एक अर्धमागधी प्राकृत भी उपलब्ध है, यद्यपि उसमें अवधी के तत्त्वों का नितान्त अभाव है। तुलसीदास ने जब अपनी रचनाओं का प्रारम्भ किया तो उन्हें किसी अर्धमागधी की अपभ्रंश या परवर्त्ति अवधी अपभ्रंश की परम्परा का अस्तित्व मालूम नहीं था, ऐसा जान पड़ता है। नहीं तो वे उसी भाषा या उससे प्रभावित भाषा में भी कुछ लिखते जैसा कि उन्होंने अनेक संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश रूपों का प्रयोग किया है। तुलसीदास ने न तो कुछ बैसवाड़ी में लिखा जो पूर्ववर्त्ति आल्हों की लोकप्रिय भाषा थी और न जायसी की 'पदमावत' की भाषा पूर्वी अवधी में। मुसलमान सूफी कवि मुहम्मद जायसी अमैठी की जागीर में रहे और वहीं मरे। यह जागीर अब सुल्तानपुर में है। यदि 'पदमावत' की भाषा के लिए वे उस रजवाड़े की बोली से बाहर कहीं गये तो केवल आसपास की पूर्वी अवध की बोलियों की शरण में।

तुलसी के काल में वाणिज्य-व्यापारिक अर्थव्यवस्था की वृद्धि के साथ अवध की जन-भाषाओं का भी परस्पर सहमिलन द्वारा एक सामान्य भाषा बनना प्रारम्भ हो गया था। इस कार्य में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समानता से भी प्रोत्साहन मिला। अवध में नई समृद्धि की मात्रा इससे विदित होगी कि मुगलों के अवध सूबे का भूमिराजस्व १६वीं शताब्दी भर में लगभग दूना हो गया था। वाणिज्यिक क्रिया-विक्रिया के विस्तार का परिणाम एक सामान्य प्रामाणिक भाषा

के विकास में हुआ जो अवध की कई बोलियों पर व्यवहृत की जाने लगी। इस-लिए बैसवाड़ी या अमेठी रियासत की बोली की अपेक्षा तुलसीदास ने इस भाषा को अपनी भाषा का आधार बनाया। जैसे लूथर ने जर्मन भाषा के विषय में किया था वैसे ही तुलसी ने भी अवध के लिए एक टकसाली भाषा के विकास में पूर्वी और पश्चिमी अवध की बोलियों के शब्द लेकर योग दिया। तुलसीदास ने बुन्देल-खण्ड-स्थित बांदा में जन्म लिया था और वे बहुत समय तक भोजपुरी भाषा-क्षेत्र में बनारस में रहे थे, जहाँ उन्होंने निर्गुण सन्तों की खड़ी बोली की शब्दा-वली से भी परिचय प्राप्त किया था। इसी से उनकी भाषा में बुन्देलखंडी, भोजपुरी और खड़ी बोली के कुछ तत्त्व आ गये हैं किन्तु यह सर्वदा स्वीकार किया गया है कि उसका आधारभूत व्याकरणिय स्कन्ध और शब्दावली अवधी की है, खड़ी बोली की नहीं। ऐसा होते हुए भी यह धारणा प्रस्तुत की जाती है कि तुलसीदास की रामायण की (जैसा कि रामचरितमानस को समस्त उत्तरी और मध्यभारत में पुकारा जाता है) महान् लोकप्रियता ने ही खड़ी बोली हिन्दी को हिन्दी क्षेत्र की राष्ट्रभाषा के रूप में निर्गत होने में सहायता दी। किन्तु यह तथ्य बिल्कुल उपेक्षित कर दिया जाता है कि रामचरितमानस ने हिन्दी-क्षेत्र के बाहर पंजाब में, ब्रजभूमि या राजस्थान की अपेक्षा जहाँ कृष्णभक्ति का प्रचार रहा, अधिक लोकप्रियता प्राप्त की। रामचरितमानस की लोक-प्रियता का कारण कुछ और ही है और उसे समझने से हमें अपने सांस्कृतिक भूतकाल की कई कठिन समस्याओं का समाधान मिल जाता है।

तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म और गृहस्थमार्ग का प्रचार किया, इस पर पर्याप्त बल दिया जाता है। किन्तु यह तथ्य उपेक्षित कर दिया जाता है कि रामचरितमानस में तुलसी अपने काल के प्रतिबिम्ब भी हैं। हिन्दी के लेखकों में अभी कुछ वर्षों से तुलसी के रामचरितमानस के यथार्थ स्वरूप पर विवाद चल रहा है। डॉ० रामविलास शर्मा^१ तुलसी की कृतियों को उस काल के सामन्तवाद के विरुद्ध एक प्रभावशाली शक्ति समझते हैं और भदन्त आनन्द कौशल्यायन^२ तुलसी को ब्राह्मणों के दमन का सबसे बड़ा समर्थक बतलाते हैं। इनके मध्य में अनेक लेखकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए हैं^३ और उनमें

१. नया पथ—लखनऊ, अगस्त १९५३।
२. नया पथ—लखनऊ, जुलाई १९५५।
३. इनमें तीन लेखक प्रमुख हैं—भगवतशरण उपाध्याय (नया पथ, नवम्बर १९५३), आदित्य मिश्र (नया साहित्य, अक्तूबर, १९५१) और परशुराम (कल्पना, फरवरी, १९५३)।

से कई साधारणतः तुलसीदास को प्रगतिवादी नहीं मानते ।

यह पहले कहा जा चुका है कि तुलसीदास मध्ययुगीन धार्मिक विचारों के चतुर्थ रूप के सर्वोच्च और अग्रणी प्रतिनिधि थे । ये व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था के साथ सम्मुख आये । यह मार्ग सामाजिक अवगुणों को स्वीकार करता था और उसकी आलोचना भी करता था और इसी आधिभौतिक आधार पर धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन की संरचना के लिए प्रयत्नशील था । ऐसे धार्मिक विचार व्यापारिक-वर्ग के हितों के अनुकूल थे और उन्हीं की पूर्ति के लिए प्रादुर्भूत हुए थे । इसने नवीन व्यापारिक रीतियों, जिनकी वाणिज्यिक प्रतियोगिता में आवश्यकता थी, और धार्मिक विश्वासों में मेल कराने में सहायता ही नहीं दी, किन्तु नवोदित मुद्रा-माल अर्थ-व्यवस्था के भली भाँति विकास के लिए घातक निर्गुण-संत मतों, लीला-भक्ति साधना और संन्यासवाद की विद्रोही प्रवृत्तियों को दबाया भी । नये आर्थिक और व्यापारी सम्बन्धों के आने के साथ-साथ, सामाजिक और बाह्य जीवन की लोलुपता और मलिनता तथा वैयक्तिक और आन्तरिक जीवन के धर्म-संस्कारों में जो विरोध उत्पन्न हो गया था, उसका समाधान बहुत आवश्यक हो गया था । इस प्रकार मध्यकालीन धार्मिक विचार का यह चतुर्थ रूप उत्तरोत्तर लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था ।

तुलसीदास की वर्ण-व्यवस्था के प्रति निष्ठा और ब्राह्मणों की पूजा—कई स्थलों पर भगवान् राम स्वयं ब्राह्मणों के पैर पूजते हुए दिखाये गए हैं—उस समय इतनी प्रतिक्रियावादी न थी, जैसा कुछ लोगों का आज विश्वास ।

१. जान अरविन : “यहाँ कदाचित् यह कहना पर्याप्त होगा कि भारत में मध्य-युगीन समाज का पता वर्ण-व्यवस्था से नहीं किन्तु शिल्प-कौशल के उत्पादन से लगता था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शिल्प के आधार पर समुदाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट कार्य पूर्ण करता था । दृढ़ पुरोहितैश्वर्य की परम्परा में सामाजिक भेदों को विस्तृत आर्थिक संगठन की दृष्टि से देखना चाहिए । एक व्यक्ति का अस्तित्व समाज में अपने दायित्व से भिन्न नहीं था और वह एक व्यक्ति विशेष के नाते नहीं बरन् समाज में अपने काम-धन्धे की परिधि में ही अपने-आपको देखता था । यद्यपि आधुनिक पूँजीवादी दृष्टि से वैयक्तिक स्वाधीनता न थी फिर भी वास्तविक जीवन में उसका अपना यथार्थ व्यक्तित्व था । ऐसा तो अब हुआ है कि उत्पादन का मध्ययुगी ढंग सामाजिक प्रगति के लिए बन्धन बन गया है और वर्ण-व्यवस्था का निरंकुश और प्रगतिगामी स्वरूप दिखाई देता है । (क्लास स्ट्रगल इन

है। कई शताब्दियों की दूरी से जब हम इस देश में मुसलमानों का आगमन देखते हैं तब इस बात को भली प्रकार समझ नहीं पाते कि उस काल में जनता की यह धारणा हो चली होगी कि उनका अस्तित्व ही संकटग्रस्त है। तुलसीदास रामचरितमानस के बालकाण्ड में कहते हैं कि जहाँ कहीं वे (मुस्लिम आक्रमणकारी) गाय और ब्राह्मण पाते हैं उस गाँव, नगर तथा प्रदेश में वे आग लगा देते हैं। प्रारम्भ में मुस्लिम सेनाओं द्वारा जंगलों और सिचाई की नहरों, तालाब इत्यादि के नष्ट कर दिये जाने के कारण ही पंजाब, राजस्थान और सिंध का बहुत-सा प्रदेश ऊसर हो गया। राजस्थान और पूर्वी सिंध के रेगिस्तान इन्हीं के सैन्य-दलों द्वारा विस्तृत हुए। ठीक जैसे सहारा का विशाल रेगिस्तान अरब जातियों द्वारा उत्तर और मध्य अफ्रीका के जंगलों और वृक्षों को नष्ट करने से फैला था।^१

इसी कारण दसवीं शताब्दी के आसपास राजपूताना से राजपूत, आभीर, अहीर, गुर्जर जातियों का विशाल पैमाने पर बहिर्गमन हुआ। उत्तरपच्छिम भारत के बहुत से भागों में रहने वाले लोग आक्रमणकारी सेनाओं की लूट-मार के कारण सब दिशाओं में, जैसा अलबेरूनी ने कहा है “धूलि के कणों के समान बिखर गये।” अन्य कई क्षेत्रों के लोगों को भी इस बरबादी के कारण घर-बार छोड़कर भागने के लिए बाध्य होना पड़ा। तथा वे जहाँ-जहाँ गये इस विनाश और दुर्गति की कहानी बड़ा-चढ़ाकर ले गये। एक तो नये शासकों की धार्मिक क्रियाएँ नितान्त भिन्न थीं, दूसरे उनकी रणनीति भी उस काल के लोगों की समझ में बिल्कुल न आ सकी। अकबर तक ने चित्तौड़-विजय के बाद सर्वसंहार की आज्ञा दी थी और गुजरात में खोपड़ियों का एक मीनार बनवाया था। एक के बाद दूसरी शताब्दी में ये नये आक्रमणकारी आते रहे, जो पहले की बाहर से आने वाली जातियों से बिल्कुल भिन्न थे। कभी समाप्त न होने वाले इन धावों और बाद में सिंहासनाधिकार के लिए किये जाने वाले युद्धों ने नगरों

इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर—माडर्न क्वार्टरली—संख्या १, नं० २, मार्च १९४६)।

१. देखिए रिचर्ड सेंट बाबें वाकर : ‘सहारा चेंलेंज’ लन्दन १९५४।

‘प्राब्लम ऑफ सहारा’ में प्रो० एस० यारकव लिखते हैं : “डेढ़ हजार वर्ष पूर्व मध्य अफ्रीका में अरब आ गये और उस महाद्वीप में आगे बढ़ते हुए उन्होंने बड़े प्राचीन जंगलों को नष्ट कर दिया। उसके बाद उनके ऊंटों और बकरियों के विशाल झुण्डों ने घास, झाड़ियों और वृक्षों की बरबादी की” (न्यू टाइम्स—मास्को, सितम्बर ८, १९५५)।

और गाँवों को उजाड़ दिया। यह सब देखकर उस काल के भारतीय हिंसा और भय से त्रस्त हो उठे होंगे। कुछ निम्नवर्ण के कारीगरों और उपजातियों के इस्लाम को विद्रोह और अवज्ञा के रूप में स्वीकार करने से दूसरे लोगों में भय और संकट की भावना और भी बढ़ी होगी। इस कारण उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को आग्रहपूर्वक पकड़ लिया, जो यद्यपि उनके सामाजिक जीवन को गतिरहित कर रहा था फिर भी उनके परित्राण का साधन था। वर्णव्यवस्था ने विचारों का एक ऐसा वायुमण्डल तैयार करने में सहायता दी जिसमें वैश्यों और शूद्रों ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा शोषण स्वीकार किया और बिना अधिक दमन-दबाव के अपना आयाधिकार उन्हें सौंप दिया। बल-प्रयोग के स्थान पर धार्मिक स्वीकृति ने जहाँ वर्ग-संघर्ष होता वहाँ सन्तुलन प्रदान किया और इससे व्यवस्था को स्थायित्व और अपरिवर्तनशीलता मिली। मुस्लिम आक्रमणकारियों के प्रहारों के कारण क्षत्रिय-वर्ग शक्तिहीन हो गया था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि तुलसीदास द्वारा मर्यादित वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों के सम्मुख बिना शर्त आत्मसमर्पण करने की प्रेरणा थी। यह पूर्व निर्देशित क्रम का चरम विकास था जिसमें भारत की समस्त अहिन्दू जातियों और समुदायों ने इस्लाम का विरोध करने के लिए ब्राह्मणों की प्रभुता को स्वीकार कर लिया था। अपने जीवन की रक्षा के लिए अस्त्र के रूप में वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मणों की प्रभुता की स्वीकृति कितनी प्रभावशाली थी यह ऐसी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुए सिक्खों के उत्थान में देखी जा सकती है। सिख गुरुओं ने उन समस्त बातों का विरोध किया जो मुसलमानों के साथ आईं, जैसे तम्बाकू और केश कटाना इत्यादि। अलबेखनी और अन्य कुछ लेखकों के अनुसार, मुसलमानों के आगमन से पूर्व ब्राह्मणों और संन्यासियों के कुछ वर्गों को छोड़कर भारतीय लम्बे केश और दाढ़ी रखाते थे^१। किन्तु सिख गुरुओं ने वर्ण-व्यवस्था की कठोरता को दूर करने का प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब में इस्लाम का विरोध, यद्यपि अत्यन्त प्रबल रहा, फिर भी उसमें वह दुर्दान्त शक्ति नहीं थी जो वर्ण-व्यवस्था ने उत्तरीभारत में अन्य स्थानों में प्रदान की।

यदि तुलसीदास ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता में वास्तव में विश्वास करते होते तो उन्होंने ब्राह्मणों की परम्परागत भाषा संस्कृत का आश्रय लिया होता। रामचरितमानस के प्रारम्भिक पदों में उन्होंने कहा है कि वे पंडितों की भाषा से दूर रहकर जनता की भाषा में लिखना चाहते हैं। तुलसी ने 'नाम' की

१. अलबेखनी : किताबुल हिन्द—अंजुमन ए तरक्की ए उर्दू ।

निर्गुण परम्परा को स्वीकार किया जो ब्राह्मणों के पुरोहितवाद पर आक्रमण है। निर्गुण भक्ति आन्दोलन ने व्यक्ति को 'नाम' द्वारा अपनी रुचि के अनुसार बिना वर्ण-जाति-पाँति की बाधा के मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग बताया था और यह वास्तव में सामन्त-काल में रूढ़िवाद के विरुद्ध सबसे बड़ी चुनौती थी।

तुलसीदास से पूर्व की शताब्दियों में रामायण की कथा उत्तरोत्तर जन-प्रिय हो रही थी^१। उस काल के लिए उसमें एक महान् आशा का सन्देश था। उस कथा में वर्णन किया गया था कि महान् आपत्तिकाल में भी जब राक्षस-राज रावण ने समस्त संसार, स्वर्ग और नरक जीत लिये थे तब सूर्यवंशी राम ने विजय प्राप्त की और अंधकार को दूर किया। इस कथा ने उस वाणिज्योन्मुख समाज में, जहाँ धन-वृद्धि के साथ पापाचरण मानव-नियन्त्रण से बाहर हो रहा हो, गार्हस्थिक जीवन की पवित्रता और वैयक्तिक सदाचारों को पुनः प्रतिष्ठित किया। नैतिकता के शिथिल वातावरण में उसने पति-पत्नी-व्रत की आवश्यकता, प्रतिज्ञा की दृढ़ता और मानव-सम्बन्धों के मूल्यों पर बल दिया। भगवान् राम का चरित्र उस काल के सर्वथा उपयुक्त था और उसकी बोलचाल की भाषाओं में माँग बहुत अधिक रही होगी। सिडनी फिकल स्टीन^२ ने बताया है कि बाइबिल का देशी भाषाओं में अनुवाद और धर्म की जनता के हितानुसार व्याख्या यूरोप में किसान, जुलाहे, कारीगर और मध्य-वर्ग के लोगों के सामन्ती प्रभुता के विरुद्ध संघर्ष का एकरूप था^३। भारत में उस समय रामायण के अनुवाद की तीव्र आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि विदेशी धर्म और जाति के लोगों के हाथों में शासन था और वे ही सामन्ती प्रभु थे। रामायण का जनप्रिय अनुवाद करने में तुलसीदास ने जनता में प्रचलित समस्त छन्दशास्त्र के रूपों को अपनाया। वर्णव्यवस्था को तथा ब्रह्मणों की पवित्रता को मान्यता देते हुए भी उन्होंने समस्त वर्गों के प्रति स्नेह और सौहार्द

१. सर चार्ल्स ईलियट : “ऐसा १४वीं और १५वीं शताब्दी में ही हुआ कि राम बहुत समुदायों के लिए केन्द्रीय और उच्चतम दिव्य पुरुष बने।

ए० एल० बशाम : “यह सम्भवतः विशिष्ट तथ्य है कि उन(श्रीराम)का सम्प्रदाय मुस्लिम आक्रमण के बाद जनप्रिय हुआ” (दि वन्डर वैट बाज इण्डिया)

२. सिडनी फिकलस्टीन : “हाऊ म्यूजिक एक्सप्रेसेज़ आइडियाज़” (इण्टरनेशनल पब्लिशर्स—न्यूयार्क)

३. अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर” में विनेशचन्द्र सेन लिखते हैं कि अपनी आजीवन की खोज में मध्यकालीन देशी हस्तलिखित ग्रन्थ उन्हें सदा निम्नवर्णों के मकानों में ही मिले।”

अभिव्यक्त किया। अयोध्या में शूद्र निषाद का स्वागत लक्ष्मण के समान होता है और उसकी विदा पर राम उसे बन्धु और सखा कहते हैं।

तुलसीदास के रामचरितमानस ने सिधुतट के उस पार से गंगासागर तक हिन्दुओं में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त की और इन तमाम शताब्दियों में वह निरन्तर लोकप्रिय रहा। यह इस कारण न था कि उसकी रचना लोगों की बोलचाल की भाषा में हुई थी या वे उसे एक अवधवासी की तरह समझ सकते थे, किन्तु इसलिये कि वह एक ऐसा साधन था जिससे जनता महान् विपत्ति की उन परिस्थितियों में भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा में जो कुछ सर्वोच्च और श्रेष्ठ था उसे अपनी मतिअनुसार अपनाये रख सकती थी। सगुण मूर्ति-उपासना के साथ निर्गुण सन्तों की परम्परा में रामनाम पर बल देने और साथ-साथ उस काल का यथार्थ चित्रण करने से—महाराज दशरथ की राजसभा का वर्णन दरबार कह कर किया गया है और भगवान् राम बारम्बार साहब कहे गए हैं—उसे अद्वितीय लोकप्रियता मिली। राम की भूमि की भाषा अवधी में उसके होने से उन लोगों पर उसका रहस्यात्मक प्रभाव पड़ा जो उसे ठीक तरह समझ नहीं सकते थे।

नई अवधी चेतना और अवध के एक देश होने का मनोवैज्ञानिक प्रतिबोध कितने प्रबल रूप से उस समय उजागर हो रहा था, वह इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने भगवान् राम का वर्णन करते हुए अयोध्या से अधिक अवध का नाम लिया है। इसका उल्लेख करते हुए पं० रामचन्द्र द्विवेदी 'तुलसी साहित्य रत्नाकर' में लिखते हैं : "अयोध्या नाम की अपेक्षा 'अवध' नाम उन्हें (तुलसी को) अधिक प्यारा था। रामचरितमानस के द्वितीय काण्ड का नाम भी आपने अवधकाण्ड ही रखा था, जो समय पाकर परिवर्तित हो गया"..... कविराज ने श्री रामचन्द्र जी अथवा कहीं-कहीं श्री दशरथजी महाराज को भी अवधेश, अवधपति, अवधनाथ, अवधराज, अवधनरेश, अवधपाल के नाम से पुकारा है। बालकाण्ड में सब देवी-देवताओं और महापुरुषों की वन्दना के साथ ही भक्त-प्रवर ने अवधपुरी की भी वन्दना की है।"

अवधी भाषा के विरुद्ध यह तर्क भी दिया जाता है कि "उन्नाव, सीतापुर, इलाहाबाद और जौनपुर जिलों में बोली जाने वाली अवधी में बहुत भेद है। किन्तु यह एक आंशिक सत्य है। निस्सन्देह उत्तरीभारत में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में, प्रामाणिक भाषाओं का पूर्णरूप से विकास इसकारण न हो सका कि व्यापारिक अर्थव्यवस्था को जल्दी ही धक्का लग गया था और बाद के मुगलों के समय में जनता बहुत दरिद्र हो गई थी। उसके बाद ब्रिटिश साम्राज्य आया और

शोषण के पूँजीवादी रूपों के विकास के साथ-साथ सामन्ती सम्बन्ध भी टूट हुए । फिर भी, इन भाषाओं के पूर्ण विकास की कमी यह प्रदर्शित करती है कि यदि भाषाएँ इतने छोटे पैमाने पर बढ़ नहीं सकती थीं तो उनका समस्त हिन्दी-क्षेत्र-भर में एकरूपता प्राप्त करना कितना असम्भव था । विचार करने वाली बात यह है कि तुलसीदास ने अवधी की किसी भी बोली में नहीं लिखा किन्तु उस भाषा में लिखा जिसका जन्म इन्हीं बोलियों से हुआ था और जो इनके ऊपर फैली हुई थी । इसके अतिरिक्त, तुलसीदास की रामायण ने अवध के आध्यात्मिक जीवन को इस सीमा तक और इस ढंग से समृद्धिमान बना दिया जो अन्य स्थानों में अविदित था, जहाँ उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई थी । 'गजेटियर ऑफ इण्डिया' में भी स्वीकार किया गया है कि :

“पूर्वी हिन्दी (अवधी) मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास की कृतियों से बहुत उच्च श्रेणी की काव्यभाषा बन गई । ये काव्य जनता की विशुद्ध बोलियों पर आधारित हैं; और संस्कृत शब्दों के जारज मेल से थोथा सम्मान न प्राप्त कर, इन्होंने बोलचाल की भाषा पर प्रतिक्रिया की है जिससे अवध के खेतों में सुनी बोली में भी कविता और स्वच्छन्दता का विशिष्ट सौन्दर्य आ गया है । अवध का प्रत्येक ग्रामीण अपने राष्ट्रीय साहित्य से ओतप्रोत है और उसके महान् लेखकों के उद्धरण उसके ओठों से जिस स्वाभाविक प्रवाह से निकलते हैं वैसा प्रवाह एक स्कॉटलैण्ड निवासी द्वारा कहे गये बर्न के पदों में भी नहीं ।”

इसी प्रकार सूर ने ब्रज प्रदेश की नवीन विकसित प्रामाणिक भाषा का व्यवहार किया और ब्रजभाषा के विकास में सहायता दी । उस काल के एक राजस्थानी कवि ने सारगभित ढंग से एक दोहे में ब्रजजनों के देश को ब्रजदेश और उनकी सामान्य भाषा को 'मधुर' कहा है । अबुलफजल ने आईन-ए-अकबरी में दिल्ली की भाषा—जबान-ए-देहलवी—का ब्रजभाषा से भेद किया है । औरंगजेब के समय में मिर्जा खाँ ने अपनी पुस्तक 'तोहफातुलहिन्द' में ब्रजभाषा के व्याकरण को समाविष्ट किया है । केवल मध्यकालीन हिन्दी के इतिहास में ही नहीं, किन्तु साधारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी 'रीतिकाल' अत्यन्त समृद्धिशाली और प्रभावपूर्ण काल माना जाता है । ब्रजभाषा में साहित्य का यह बहुप्रसवी फलना-फूलना मुगल दरबार के आगरा चले जाने पर हुआ । हिन्दी प्रदेश की अन्य भाषाओं में किसी कारण यदि साहित्य की ऐसी अपूर्व सृष्टि न हो सकी तो उसका कारण यह नहीं है कि उन क्षेत्रों की प्रामाणिक भाषाएँ अंकुरित होकर बढ़ नहीं रही थीं ।

अध्याय ८

आधुनिक हिन्दी और उर्दू का उद्भव और विकास

हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी, जैसा उसे कभी-कभी कहा जाता है, कई बातों में उत्तरी भारत की जनता की सबसे महान् परम्परा है। खड़ी बोली क्षेत्र के बाहर हिन्दी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं के आम बोलचाल की भाषा होने पर जोर देते हुए बहुधा यह समझा जाता है कि हिन्दी और ये भाषाएँ परस्पर विरोधी हैं। हिन्दी के समर्थक इन भाषाओं के अस्तित्व तक को नहीं मानते और प्रादेशिक भाषाओं तथा जनपद बोलियों के समर्थक इनका हिन्दी से कोई सम्बन्ध तक अस्वीकार करने लगे हैं। दोनों दलों को अन्य देशों के भाषा सम्बन्धी इतिहास से प्रमाण मिल जाते हैं, पर वे इस देश की अपनी सांस्कृतिक और भाषा सम्बन्धी विशेषताओं को नहीं देखते। यह दिखाया जा चुका है कि धर्म ने हमारे देश के विशिष्ट इतिहास का निर्धारण करने में प्रमुख भाग लिया है। प्रत्येक स्थान में संगठित धर्म सामन्ती पद्धति का आवश्यक भाग रहा है। एक में दूसरे के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता था, जैसा कि यूरोप के धर्मसुधार आन्दोलन (रिफॉर्मेशन) में देखा गया है। यूरोप की वैज्ञानिक क्रान्ति का इतिहास भी वहाँ की सामाजिक पद्धति के आधार पर निमित्त धर्म के ऊपरी ढाँचे के प्रभाव को सूचित करता है। एक हजार वर्षों का अधिकतर भाग उस वैज्ञानिक चिन्तन के विकास में लग गया जो कि उस काल की धर्मरूढ़ियों के उपचयों और प्रतिरोध के बगैर २०० वर्षों से कम समय में ही निवृत्त हो गये होते।

भारत में समाज पर धर्म का अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसने वैज्ञानिक चिन्तन को बिल्कुल निष्क्रिय कर दिया था। सांस्कृतिक अधिसंरचना (ऊपरी ढाँचे) का अस्तित्व आधार की सक्रिय सेवा करने और उसको दृढ़ बनाने के लिए होता है। बाद में जब आधार में परिवर्तन होने लगता है, जिनके बिना सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती, तब पुरानी अधिसंरचना रुकावट का काम करने लगती है और साथ ही आधार में पनपते हुए नये

तत्त्वों की सेवा के लिए, नई अधिसंरचना अंकुरित होने और पुरानी से संघर्ष करने लगती है। भारतवर्ष में धर्म-संस्कारों की अधिसंरचनाएँ असाधारण सक्रिय और अत्यधिक प्रमुख रही हैं। उसने अधिसंरचना और आधार के हर पहलू को प्रभावित करके उत्पादन सम्बन्धों को, जो आधार को निर्धारित करते हैं, दृढ़ ही नहीं, ठोस और जड़ बना दिया। इससे भी बढ़कर उसने उत्पादन के आधार उपकरणों को जड़ बना दिया—भारत में सामन्तशाही के दीर्घकाल में कृषि-कर्म और परिवहन की पद्धति अग्रविर्धित रही। यह भी पहले कहा जा चुका है कि ऐसा होने का एक कारण वर्णव्यवस्था थी, जिसने समाज के सामन्तीकरण के साथ-साथ पिछले युग की ग्राम-पंचायतों, पारिवारिक संघों और दासता पर आधारित शोषण के रूपों को स्थायी बनाया। इसी प्रकार भारत में भाषा सम्बन्धी विकास पर भी धर्म का बड़ा तीव्र प्रभाव पड़ा। जब तक हम इसे न समझ लेंगे कि उत्तरी भारत के अनेक भागों की बोलचाल की भाषाओं का उत्प्लवण या उन्मूलन किए बिना, खड़ी बोली पर आधारित या खड़ी बोली मिश्रित भाषाओं को वहाँ न्यूनाधिक सुग्राह्य करने में धर्म ने कितना भाग लिया है, तब तक हम आधुनिक हिन्दी के स्वभाव और महत्त्व को समझ न सकेगे।

ब्रजभाषा कृष्णभक्ति से सम्बन्धित रही है, खड़ी बोली का फारसीमय रूप भारत में मुस्लिम धर्म से और खड़ी बोली के कुछ शब्द और व्याकरण के रूप योगियों, साधुओं और निगुण सन्तों से सम्बन्धित रहे हैं। कृष्णभक्ति का केन्द्र मथुरा था। यद्यपि भगवान् कृष्ण के भक्तों ने सामान्यतः अपने भजनों के लिए ब्रजभाषा ही को चुना, उनमें इधर-उधर भ्रमण करने वाले साधुओं का कोई सम्प्रदाय न था। इसके विपरीत निगुण सन्त, साधु, योगी और परिव्राजक खड़ी बोली को चारों ओर ले गये, क्योंकि ये स्थान-स्थान में भ्रमण किया करते थे और उनके केन्द्र समस्त उत्तर भारत में थे। सामन्ती काल में ऐसे भी समय थे जब कि प्रत्येक पाँचवाँ या छठा भारतीय साधु होता था। मुगल काल में भी उनकी संख्या बहुत अधिक थी। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस^१ में इसे कलियुग का एक दोष माना है और कहा है कि निम्न वर्ण के लोग—जेली, कुम्हार, चाण्डाल, किरात, कोल अपना सिर

१. जे बरनाधम तेलि कुम्हारा । स्वपच्च किरात कोल कलवारा ॥

नारि मुई घर सम्पति नासी । मूँड मुडाइ होंहि सन्यासी ॥

ते बिप्रन्ह सन पाँव पुजार्वाहि । उभय लोक निज हाथ नसारवाहि ॥

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषली स्वामी ॥

मुँडवा कर संन्यासी बन जाते हैं और ब्राह्मणों से आदरपाने का दावा करते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि उससे खड़ी बोली क्षेत्र के बाहर कई केन्द्र और समुदाय अस्तित्व में आ गये थे जिन्हें खड़ी बोली के तत्त्वों से थोड़ा बहुत परिचय हो गया था। जब उत्तरकालीन मुगलदरबार, दक्षिण की सत्तनतों और सूफियों^१ द्वारा उर्दू का विकास हुआ तथा जब खड़ी बोली क्षेत्र के बाहर के भारतीय मुसलमानों ने उर्दू को अपनाया, खड़ी बोली को और भी प्रेरणा मिली^२; भारत के कई भागों में उर्दू को अभी भी 'नबी जी की ज़बान' कहा जाता है। १९३१ की 'सेन्सस रिपोर्ट' में लिखा है कि बंगाल के कुछ कुलीन परिवारों ने इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो जाने पर बंगाली का बहिष्कार और उर्दू का व्यवहार करना चाहा था। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने 'शेखई' या 'जुलाही बोली' का उल्लेख किया है, जिसे मुसलमान जुलाहे—अन्सार—उत्तरी बिहार में अपनी अपभाषा के रूप में व्यवहार करते^३ हैं। इसमें अरबी, फारसी और खड़ी बोली के शब्दों का मैथिली से मिश्रण किया गया है। भोजपुरी क्षेत्र में उर्दू को 'मुगलई' अथवा मुगलों से सम्बन्धित भाषा कहा जाता है। दक्षिण भारत में उर्दू को 'मूर'—मुसलमानों की भाषा—पुकारा जाता रहा है। १९५१ की 'सेन्सस रिपोर्ट' के अनुसार मद्रास राज्य में लगभग ५ लाख मुसलमानों ने उर्दू को अपनी मातृभाषा कहा है। इसका उल्लेख करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है कि "यह सत्य है कि ये मुसलमान कुरान का अध्ययन अरबी में करते हैं, किन्तु उनकी मातृभाषा निश्चयात्मक रूप से तमिल है...तो भी वे उर्दू या हिन्दुस्तानी को अपनी मातृभाषा कहते हैं^४।"

इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि दिल्ली के व्यापारी मुगल-

१. देखिये—मौलवी अब्दुल हक—उर्दू भाषा के उत्थान में सूफियों का अंशदान।
२. डॉ० मोहम्मद हसन : "इस कार्य में सहायता करने वाले बिखरे हुए मुस्लिम फकीर थे जो दूर-दूर के चक्कर लगाते थे और प्रेम और सर्वबन्धुत्व का सन्देश देते थे। ये फकीर साधारणतया विद्यमान भाषाओं के व्याकरण के ढाँचे और वाक्य-रचना ग्रहण कर लेते थे तथा अरबी और फारसी के शब्दों का व्यवहार करते थे जिसने आगे चलकर बाद में दूसरी लिपि का रूप धारण कर लिया।" (सम थाटस् आन् कल्चरल कमिशन रिपोर्ट, इण्डियन लिटरेचर, बम्बई, नं० ३, १९५३।)
३. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य।
४. सेन्सस रिपोर्ट आब इण्डिया : १९५१ मद्रास कुर्ग, भाग २।

साम्राज्य के पतन के बाद खड़ी बोली को भारत के अन्य स्थानों में अपने साथ ले गये और इस प्रकार यह उन भागों की बोलचाल की भाषा हो गई।^१ व्यापारी साधारणतया अपने ग्राहकों की भाषा स्वीकार कर लेते हैं और अपनी भाषा को धीरे-धीरे छोड़ देते हैं। आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त पंजाब के अनेक नगरों के नाम आज भी उन क्षत्रिय, श्रोड़ा, अग्रवाल आदि जातियों के उपवर्णों तथा पारिवारिक कुलनामों में चले आ रहे हैं, जो पूर्व में चली आईं। श्रोड़ों के एक उपवर्ण चोप का उद्गम चोपायत नगर से, बालूजा का वालिज्यक से और बत्रा का वटरक से हुआ है। अग्रवालों का एक उपवर्ण सहारालिए अपना मूल स्थान लुधियाना जिले के सहाराला को, जिसे पाणिनि ने सरालक कहा है, बताता है। पंजाब और खड़ी बोली क्षेत्र के इन व्यापारियों के वर्ण और उपवर्ण उत्तरप्रदेश तथा अन्य राज्यों में भिलते हैं, किन्तु उनका अपनी पहले की भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। दिल्ली के उजड़ जाने के बाद जो व्यापारी पूर्व की ओर गये, वे भी खड़ी बोली भूल गये होते—और बहुत से भूल भी गये—यदि ब्रिटिश शासकों ने बिहार, यू० पी० और मध्यभारत में उर्दू को कचहरी की भाषा के रूप में लागू न किया होता। इसके अतिरिक्त ये व्यापारी मुश्किल से एक लाख की संख्या में रहे होंगे, जबकि सन्त-साधु, जिन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग किया, और मुसलमान फकीर तथा सामान्य-जन, जिन्होंने उर्दू को अपनी धार्मिक भाषा के रूप में ग्रहण किया कई लाख की संख्या में थे। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि एक भारतीय पर व्यापार की भाषा की अपेक्षा धर्म की भाषा का अधिक प्रभाव पड़ेगा, खासकर जबकि व्यापारी वर्ग स्वयं पतनोन्मुख हो।

एक सहायक कारण, जिसकी साधारणतया उपेक्षा कर दी जाती है, यह है कि खड़ी बोली का व्याकरण अत्यन्त सरल है। ग्रियर्सन ने इस पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है, “यह विचारणीय बात है कि उत्तरभारत की सब भाषाओं में यही एक ऐसी भाषा है जो विश्लेषण को अन्तिम छोर तक ले गई है। इसमें एक ही काल होता है, क्रियाओं के लिए वर्तमान संयोजक और संज्ञाओं के लिए एक ही यथार्थ कारक होता है। लगभग सभी काल के शब्दरूप और सम्बन्ध कृदन्त, सहायक क्रियाओं आदि द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं।”^२

अब प्रश्न यह उठता है कि भारत में उर्दू का उद्गम मुसलमानों के

१. दे० हिन्दी शब्द सागर की भूमिका—काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

२. लिग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया : खण्ड ६, भाग २।

प्रभाव से हुआ या उसके बगैर। कई दशाब्दियों से उर्दू और आधुनिक हिन्दी के उद्गम पर लगातार खींचातानी हो रही है। उर्दू के बहुत से समर्थक ग्रियर्सन के इस कथन का कि उर्दू का जन्म भारत में इस्लाम के प्रभाव से हुआ खण्डन करते हैं। इसके विपरीत उनका तर्क है कि आधुनिक हिन्दी का कृत्रिम निर्माण अंगरेजों के प्रभाव से हुआ और उर्दू के सद्भव बोलचाल के शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्द रखने से वह उत्पन्न की गई। भारतीय भाषाओं में फारसी के शब्द सम्भवतः ईसवीकाल के प्रारम्भ से आने लगे होंगे, जब शाक्य और अन्य आप्रवासियों के नवीन प्रवाह उन्हें अपने साथ लाये होंगे। बाद में पंजाब फारस के प्रभुत्व के अन्तर्गत आ गया। इसके अतिरिक्त भारत और ईरान में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध बराबर बना रहा।^१ यहाँ तक कि अजन्ता की एक गुफा में भी एक भारतीय राजदरबार में फारस के दूत के आगमन का दृश्य है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, कि भारतीय भाषाओं में आजकल के अधिकांश फारसी शब्द और प्रशासनिक पद, फारसी के मुगल दरबारों की सरकारी भाषा हो जाने के बाद आये। पूर्वी यूरोप में भी ऐसी ही घटना घटी थी, जहाँ यूगोस्लाविया सरीखे देशों की भाषाओं में, जो तुर्कों की अधीनता में रहे, उन पड़ोसी देशों की अपेक्षा, जो उससे बाहर रहे, फारसी, अरबी और तुर्की के शब्द अधिक संख्या में हैं।^२

उर्दू का जन्म भारत की भाषाओं में कुछ फारसी और अरबी शब्दों के समाविष्ट हो जाने से नहीं हुआ। पश्तो, पंजाबी, मराठी,^३ बंगाली^४ ही नहीं तमिल^५ तक ने फारसी और अरबी से शब्द उधार लिये हैं, किन्तु खड़ी बोली क्षेत्र के अतिरिक्त कहीं और उर्दू के समान भाषा का उदय नहीं हुआ। मौलवी अब्दुलहक ने मराठी भाषा में फारसी शब्दों की बड़ी संख्या की ओर

१. बे०, आर० ई० एम० ठहीलर : ईरान एण्ड इण्डिया इन प्रीइस्लामिक टाइम्स : (एण्डेंट इण्डिया-आरकोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, नई दिल्ली)

२. बे०, मूआइन उद्दीन : यूगोस्लेव जवान में उर्दू के अलफाज़—हमारी जवान—अलीगढ़, १५ जून १९५५।

३. मौलवी अब्दुलहक : मराठी जवान पर फारसी का असर—अंजुमन ए तरक्की ए उर्दू, औरंगाबाद।

४. बे०, एच० सी० पाल : शिफ्टिड मीनिंग आव सम अरेबिक एण्ड परशियन वर्ड्स इन बंगाली—कलकत्ता रिव्यू—अगस्त १९५२ और नवम्बर १९५३।

५. बी० एल० सुब्रह्मण्यम् : मुस्लिम लिटरेचर इन तमिल—तमिल कल्चर मग्रास, जनवरी १९५३।

ध्यान खींचा है तथा प्रो० पाल ने बोलचाल की बंगाली में फारसी और अरबी शब्दों की प्रचुरता की ओर संकेत किया है ।

उर्दू मुगलकाल में मुसलमान शासक वर्गों और उनके आश्रितों-अनुयायियों की कृत्रिम भाषा के रूप में पैदा हुई थी^१ । खड़ी बोली के बुनियादी शब्दों के भण्डार और व्याकरण के स्कन्ध पर फारसी और अरबी के शब्दों का ही नहीं उनके कुछ व्याकरण के नियमों का भी उपारोपण होने से इसका उद्भव हुआ । मुसलमानों का भारत में आना और दिल्ली में उनके शासन की स्थापना उर्दू के उद्भव का सीधा कारण है । भारत ही एक ऐसा देश नहीं है जहाँ स्थानीय और विदेशी भाषा के संयोग से एक कृत्रिम या बोलचाल की भाषा पैदा हुई हो । किसी सामान्य भाषा के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'लिग्वा फ्रेंका' वास्तव में लेवांट में व्यवहृत इटालियन, फ्रेंच, ग्रीक और स्पेनिश भाषाओं के मिश्रण का नाम है । लगभग आधी शताब्दी पहले पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के भोजपुरी लोग मारीशस द्वीप में जा बसे थे । उनकी भाषा भोजपुरी और फ्रेंच के मिश्रण से एक बिल्कुल नई क्रीओल भाषा उत्पन्न हुई है । पूर्वी अफ्रीका की स्तुआवली भाषा का उत्थान इसी तरह वहाँ के हबिशियों की बोलियों पर अरबी शब्दों के उपारोपण से हुआ । स्पेनिश और अंग्रेजी के मिश्रण से दक्षिण अमरीका के उत्तर में स्थित क्यूरेकोआ द्वीप में पपिआमेन्टो भाषा का जन्म हुआ । "यह निर्धनों की भाषा है जो विदेशी भाषा नहीं सीख सकते किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए जिन्हें विदेशियों से किसी-न-किसी प्रकार का सम्पर्क रखना ही पड़ता^२ है ।"

हिन्दी उर्दू की भाँति धार्मिक भेदों के कारण भिन्न भाषाओं का जन्म कई और देशों में भी हुआ है । क्रोटियन और सरबियन वास्तव में एक ही भाषा है किन्तु जनता के धार्मिक मतभेदों के कारण उनके बाह्य रूपों में भेद उत्पन्न हो गये हैं । यहूदियों की दो भाषाओं जूडेस्मो और यिड्डिश का जन्म हिब्रू भाषा के क्रमशः स्पेनिश और जर्मन के साथ मिश्रण से हुआ ।

उर्दू भाषा के दोनों नाम, रेखता और उर्दू, महत्त्वपूर्ण हैं । रेखता के अर्थ है मिश्रित, और उर्दू मुगलदरबारों के लश्कर का नाम था जहाँ

१. उर्दू का उद्भव मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत हुआ है इसे सुविख्यात मार्क्सवादी संयुक्त सज्जाद जहीर ने स्वीकार किया है । उन्होंने अपनी पुस्तक उर्दू हिन्दी और हिन्दुस्तानी में दिखाया है कि किस प्रकार मुसलमानों के राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव से उर्दू का जन्म हुआ ।

२. न्यू टाइम्स मास्को नं० २—१९५० ।

विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता था। उर्दू भाषा के शासक-वर्ग तथा जनता के बीच सामान्य आदान-प्रदान का माध्यम होने से और मुसलमानों की धार्मिक भाषा के रूप में वृद्धि प्राप्त करने से इसमें बोलचाल के तत्त्व अधिकाधिक आते रहे किन्तु साद्यन्त यह वर्गभाषा ही रही। इस भाषा का मुसलमानों से सामान्य सम्बन्ध अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह उर्दू के सर्वोच्च लेखकों ने स्वीकार किया है। इंशाअल्ला ने 'दरियाए-लताफत' में इसे शाह-जहानाबाद (दिल्ली) के अमीर-उमराव, शिविरानुचरों, कारीगरों, मुस्लिम शिल्पियों, खूबसूरत माशूकों, शोहदों, मुलाज्मों और दासों की भाषा कहा है। यह भाषा कैसे बनी इसका उल्लेख करते हुए "दरियाए-लताफत" में ही आप लिखते हैं "यहाँ शाहजहानाबाद में खुशबयानों ने मुत्तफिक (एक राय) होकर मुतद्द (अनेक) जबानों से अच्छे लफ्ज (शब्द) निकाले और बाज़ इबारतों और अल्फाज़ (शब्दों) में तसर्रफ (प्रयोग) करके और जबानों से अलग कर नई जबान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा"

मीर अमन देहलवी ने 'बागो-बहार' की भूमिका में लिखा है कि

१. उर्दू के उद्गम का जिक्र करते हुए मीर अमन ने 'बागो-बहार' की भूमिका में लिखा है—“हकीकत उर्दू जबान की बुजुर्गों के मुँह से-यूँ सुनी है कि बिल्ली शहर हिन्दुओं के नजदीक चौजुगी है। उनके राजा प्रजा कदीम से यहाँ रहते थे और अपनी-अपनी भाखा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुलतान महमूद गजनवी आया। फिर गौरी और लोधी बादशाह हुए। उस आमदोरपत के बाअस कुछ जबानों ने हिन्दू-मुसलमानों की आमेज़िश पाई। आखिर अमीर तैमूर ने, जिसके घराने में अभी तक नामो-निशान-ए-सलतनत चला जाता है, हिन्दुस्तान को लिया। उसके आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया। जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठा तब चारों तरफ के मुगलों से सब कौम, कदरदानी और फंज़रसानी इस खान्दान-ए लासानी की सुनकर, हज़ूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर-एक की गोयाई और बोली जुदा-जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-मुलफ, सवाल-जवाब करते-करते एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई। जब हज़रत शाहजहाँ ने किला मुबारक और जामा मस्जिद और शहर-पनाह तामीर किया, तब बादशाह ने खुश होकर जशन फरमाया और शहर को अपना दाखल खलाफा बनाया, तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ और वहाँ के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला का खिताब दिया।

मुगल दरबार में, विशेषकर शाहजहाँ के दरबार में, उर्दू का जन्म उस काल में हुआ जब दिल्ली नगर के शाहजहानाबाद और उर्दू-ए-मुअल्ला दोनों ही नाम थे। उर्दू के सबसे बड़े कोष 'फरहंग ए आसफिया' की भूमिका में एक मुगल शाहजादा अरशाद गुरगानी का एक उद्धरण दिया है कि "हर कोई इसे स्वीकार करता है कि मुहावरेदार उर्दू तिमूरी (मुगल) शाहजादों की भाषा है और उसकी टकसाल लाल किला है। इसलिए सैयद अहमद देहलवी हमें बुलाते थे और आम लोगों की भाषा की परवा नहीं करते थे।" उसी भूमिका में मौलवी सैयद अहमद लिखते हैं, "मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता कि भाषा टकसाल से बाहर की हो" "हम अपनी भाषा को ऐरे-गैरों की, लावलीबाजों घोबियों की, जाहलों की या कुछ शब्दों को इधर-उधर से इकट्ठा कर लेने की, नहीं बना सकते। हमें वह उर्दू भी पसन्द नहीं है जो भारतीय ईसाई, नये मुसलमान, खानसामे, साहबों के अरदली, शिविरानुचर, और छावनी के मिले-जुले लोग बोलते हैं और जिसका पुड़ू नाम रखकर मजाक उड़ाया जाता है।" इसी सम्बन्ध में शम्स-उल-उलेमा मौलवी मुहम्मद आज़ाद ने अपनी 'नज़्म ए आजाद' में कहा है "उर्दू उनके वंशजों की है जो वास्तव में फारसी बोलते थे। इसी से उन्होंने फारसी छन्दों, फारसी के रंगीन ख्यालों और फारसी छन्द-शास्त्र के विभिन्न रूपों की ठीक-ठीक नकल की।" उर्दू में फारसी के व्याकरण के नियमों के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए अली सरदार जाफरी ने यह निर्धारित किया है कि, 'गरीब' और 'किताब' शब्दों का फारसी में बहुवचन 'गुरबा' और 'कुतुब' होता है किन्तु उर्दू में वे 'गरीबों' और किताबें या किताबों होते।"

अमीर तमूर के ऐहव से मुहम्मदशाह की बावशाहत तक, बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक, पीढ़ी-ब-पीढ़ी सल्तनत यकसां चली आई। निदान जबान-ए-उर्दू मंजते-मंजते ऐसी मंजी कि शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

१. शाहजहाँ के बाद उर्दू-ए-मुअल्ला नाम दिल्ली के लालकिले और दरीबा के बीच के क्षेत्र का रह गया और कुछ समय बाद इस भाग को लोग उर्दू कहने लगे जैसा कि सन् १८५७ के विद्रोह के एक 'छत्ता' गीत की निम्न पंक्ति से विदित होता है—

उर्दू लूटा दरीबा लूटा, लूटा मालीवाड़ा।

गुड़वालों की कोठी लूटी, लूटा मन्दिर सारा ॥

२. अली सरदार जाफरी : व्हाई टू लिटरेरी फार्म्स से हिन्दी एण्ड उर्दू — (इण्डियन लिटरेचर—नं० १, १९५३)

हैं। कोई भी ऐसा उर्दू व्याकरण नहीं है जो इन फारसी के बहुवचनों को अस्वीकृत करता हो—बल्कि सब ने इसकी स्वीकृति दी है। तथा कोई ऐसा उर्दू लेखक नहीं है जिसने फारसी के इन रूपों का अधिकाधिक व्यवहार न किया^१ हो।

उर्दू के असाम्प्रदायिक रूप के समर्थन में, तथा मुसलमानों के आगमन से उसके किसी भी सम्बन्ध के विरुद्ध, यह तर्क रखा जाता है कि उर्दू के बहुत से ख्यातिप्राप्त लेखक हिन्दू और सिख हैं, जबकि हिन्दी-लेखक सभी हिन्दू हैं। जब मुसलमान दरबारों की भाषा फारसी थी तब हिन्दुओं ने फारसी उसी सुगमता से लिखी जिस से आज वे अंग्रेजी या उर्दू लिख रहे हैं। अंग्रेज शासकों ने उर्दू को देश के कुछ भागों में कचहरी की भाषा और शिक्षा का माध्यम बनाया और इन क्षेत्रों के सब सम्प्रदायों के लोगों को इस भाषा को सीखना पड़ा। सबसे अधिक पंजाब में ऐसा हुआ, जिस वजह से आज के अधिकांश अमुस्लिम लेखक पंजाबी हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू या खड़ी बोली नहीं है।

दूसरी समस्या जो हिन्दी और उर्दू के इतिहासज्ञों को उलझन में डाल रही है यह है कि जब बोलचाल की भाषाएँ क्षेत्र से क्षेत्र में बदल सकती हैं, किन्तु सम्प्रदाय से सम्प्रदाय में नहीं, तो हिन्दू और मुसलमान भाषा के बारे में भिन्न भिन्न पसन्द कैसे रख सकते हैं। यह विरोधाभास उन्हें तब और भी उलझा देता है जब यह कहा जाता है कि हिन्दी और उर्दू, हिन्दू और मुसलमानों की विभिन्न भाषाएँ ही नहीं, उन्हें वे दो राष्ट्रों में विभाजित करती है, और पाकिस्तान बनने के बाद भी यह समस्या पूर्ववत् उलझी रही है। ऐसा सोचते हुए इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि एक राष्ट्र की सामान्य भाषा से निकली हुई उसके अन्तर्गत विभिन्न वर्गों और समूहों की अपनी अपभाषाएँ हो सकती हैं। दिल्ली के आसपास रहने वाले हिन्दू और मुसलमानों की सामान्य बोलचाल की भाषा खड़ी बोली है और अन्य क्षेत्रों में वहाँ की भाषाएँ हैं। बोलचाल की भाषा एक ही रूप में रहती है और वही एक भाषा समस्त समाज तथा समस्त वर्गों की सेवा करती है। यदि उस भाषा का कोई ऐसा रूप उठ खड़ा हो जो समाज के अन्तर्गत अकेले आदान प्रदान का साधन न हो तो वह किसी सामाजिक वर्ग की केवल 'अपभाषा' मात्र होता है। हिन्दी और उर्दू का सदा हिन्दुस्तानी भाषा के दो रूपों में उल्लेख होता है जबकि बोलचाल की भाषा एक ही रूप में विद्यमान रहती है।

१. अली सरदार जाफरी की अधिकांश पुस्तकें प्रकाशित करने वाला उर्दू मुद्रणभवन 'कुतुब' कहलाता है जो कि किताब का फारसी बहुवचन है।

इन दोनों विभिन्न रूपों के अस्तित्व को एक साथ स्वीकार करना इस तथ्य की पुष्टि करता है कि इन दोनों में से एक या दोनों ही कृत्रिम भाषाएँ हैं।

यदि आधुनिक हिन्दी मुख्य भाषा स्वीकार की जाती है और उर्दू 'वर्ग-अपभाषा' तब इस तथ्य का कि उर्दू आधुनिक हिन्दी की अपेक्षा बोलचाल की हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली के निकटतर है, स्पष्टीकरण करना पड़ेगा। हिन्दी और उर्दू की शब्दावलियाँ हटा दिए जाने पर हिन्दुस्तानी समस्त उत्तरी भारत की भाषा के रूप में विस्तृत नहीं हो सकती, किन्तु सिमट कर खड़ी बोली क्षेत्र की बोलचाल की भाषा भर रह जाती है। खड़ी बोली क्षेत्र के बाहर किस सीमा तक हिन्दुस्तानी बोलचाल के व्यवहार की भाषा है यह निम्न दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। अप्रैल १९५१ में बिहार विधान सभा में यह प्रकट किया गया था कि हिन्दी की प्राथमिक परीक्षा में जो १३६२ सरकारी कर्मचारी बैठे थे उनमें से सब बिना अपवाद के असफल रहे। इलाहाबाद कुम्भ दुर्घटना की जाँच की रिपोर्ट में भी नामपट्टियों इत्यादि को जनता की समझ में आने वाली भाषा में लिखने की आवश्यकता पर बल दिया गया था।

उत्तरी भारत के एक बहुत बड़े भाग में उर्दू मुसलमानों की^१ और उन हिन्दू श्रेणियों की जो उनके अधिक सान्निध्य में आई; वर्ग भाषा है। इस उर्दू से खड़ी बोली क्षेत्र की भाषा का भ्रम न होना चाहिए, जो वस्तुतः अपने इसी रूप में अमीर खुसरो से भी पहले से अस्तित्व में है। अमीर खुसरो ने इस भाषा को समस्त उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषा कभी नहीं माना और इसे केवल दिल्ली और उसके आसपास की भाषा कहा है। हिन्दी में अमीर खुसरो की तथाकथित रचनाओं पर बहुत-कुछ जोर दिया गया है। यद्यपि उन्हें सबने अप्रामाणिक स्वीकार किया है। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित हो गया है कि खुसरो की 'खालिकबारी', जिसे हिन्दी और उर्दू के इतिहासज्ञ अपनी भाषा का प्रथम वर्तमान ग्रन्थ मानते हैं, अमीर खुसरो की रचना न थी, बल्कि १७वीं शताब्दी के किसी ज़ियाउलद्दीन खुसरो की^२ थी। तो भी हिन्दी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं के साथ और उनसे पहले खड़ी बोली विद्यमान थी। उर्दू और ब्रजभाषा के उत्थान ने उसे एक 'बोली' से अधिक पनपने न दिया, यद्यपि वह राजधानी की भाषा थी।

१. 'इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी' में डॉ० सु० कु० चटर्जी लिखते हैं, "सरकारी समर्थन के बावजूब भी फारसीमय उर्दू एक वर्ग बोली ही है जिसे भारत का तीन चौथाई या कदाचित ४/५वां भाग समर्थन नहीं दे सकता।"

२. डे० 'खालिकबारी' सम्पादक प्रो० महमूद शेरवानी अंजुमन ए तरबकी ए उर्दू।

बाद में हिन्दी का कृत्रिम भाषा के रूप में जन्म बहुत कुछ उर्दू ही की तरह हुआ। कभी-कभी हिन्दी का विकास बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी में खोजा जाता है जब शुरू के मुस्लिम लेखक 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' का व्यवहार किसी भाषा विशेष के लिए नहीं, किन्तु 'हिन्द' के विशेषण के रूप में तथा उत्तरी भारत की समस्त भाषाओं के लिए करते थे। किन्तु इस बात पर सबका अभिमत एक है कि साहित्यिक हिन्दी ब्रजभाषा के बाद आई। हिन्दी भाषा के इतिहासों के अनुसार रीतिकाल, जिसकी समस्त कृतियाँ ब्रजभाषा में है, संवत् १७०० से १६०० (१६४३ ई० से १८४३ ई०) तक रहा और ठीक इस के बाद खड़ी बोली हिन्दी का समय प्रारम्भ हो गया^१। यद्यपि इस बात का कोई कारण नहीं दिया जाता कि बाद की ब्रजभाषा की रचनाओं को, जो बराबर लिखी जाती रही, हिन्दी साहित्य में क्यों स्थान नहीं दिया गया, किन्तु यह बहुधा स्वीकार कर लिया जाता है कि इसके पहले खड़ी बोली हिन्दी में साहित्य नहीं था और उसका वास्तविक प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५ ई०) से^२ हुआ। इस काल में आधुनिक हिन्दी के उद्गम के बारे में दो सिद्धान्त हैं। पहला यह कि उसका जन्म उर्दू के समस्त फारसी-अरबी और बहुत से हिन्दुस्तानी शब्द निकाल कर उनके स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्द रख देने से हुआ। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रारम्भ में जो कुछ देवनागरी लिपि में छपा था वह बहुत कुछ उर्दू था जिसे बाद में उत्तरोत्तर संस्कृतमय किया जाता रहा। यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश से प्रकाशित होने वाला हिन्दी का सर्वप्रथम समाचारपत्र देवनागरी लिपि में तो था, किन्तु उसकी भाषा उर्दू थी।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि आधुनिक हिन्दी का जन्म उर्दू या दिल्ली के आसपास की शुद्ध खड़ी बोली से स्वतन्त्र रूप में हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन के कारण खड़ी बोली समस्त हिन्दुस्तानी प्रदेशों में तथा उसके बाहर के नगरों में फैली। पच्छिमी नगर जैसे दिल्ली और आगरा का वैभव समाप्त हो गया और लखनऊ, फैजाबाद, बनारस, पटना, मुर्शिदाबाद आदि महत्त्वपूर्ण हो गये। इसलिए दिल्ली और आसपास के नगरों के हिन्दू व्यापारी जीविका की खोज में पूर्वी नगरों में गये। वे जो खड़ी बोली बोलते थे वह स्वाभाविक बोली थी, मुस्लिम शासकवर्ग की 'जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं थी। पच्छिम के व्यापारियों की बोलचाल की भाषा ने अपना मौलिक रूप अधुणण रखा, यद्यपि स्थानीय बोलियों से उसका रूप थोड़ा-बहुत विकृत हो गया। ऐसी धारणा है

१. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास।

२. बजरत्नदास : खड़ी बोली हिन्दी का इतिहास।

कि यही वह खड़ी बोली थी, जो आधुनिक हिन्दी का आधार बनी, दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली नहीं।^१

आधुनिक हिन्दी के उद्गम के बारे में इन दोनों विचारों में कुछ सत्य हैं। इस तथ्य की सामान्यतः उपेक्षा कर दी जाती है कि खड़ी बोली के तत्त्वों से उत्तरीभारत के तीर्थों और व्यापार के केन्द्रों का पहले ही से परिचय हो चुका था। इसके कारण पहले बताये जा चुके हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उर्दू के, जो अधिकांशतः हिन्दू जनसंख्या के क्षेत्रों में कचहरी की भाषा घोषित कर दी गई थी, विरुद्ध साम्प्रदायिक भावना ने भी आधुनिक हिन्दी के उद्गम में प्रमुख भाग लिया।

उत्तरी भारत की अन्य भाषाओं से आधुनिक हिन्दी का भेद, तद्भव के स्थान पर तत्सम^२ के प्रयोग का है। एक शताब्दी से कम पहले खड़ी बोली हिन्दी की आधुनिक शब्दावली विकसित होने लगी थी और ग्रियर्सन ने इस पर कहा था कि “हिन्दी पर संस्कृत का घातक जादू चढ़ गया है।” उस समय तक समस्त भारतीय भाषाओं में केवल तद्भव शब्द थे जो संयुक्त व्यञ्जन और सन्धिस्वरों को निकालकर और मूर्धन्य वर्णों के स्थान पर ओष्ठ्यदंत्य और तालव्य वर्णों को प्रतिष्ठापित करते थे। “पाँच सौ वर्षों तक इन भाषाओं ने मनुष्य के मन में प्रस्फुटित होने वाले किसी भी विचार को स्फटवत् स्वच्छता से प्रकट किया। इस प्राचीन साहित्य में उच्चकोटि का काव्य है। दर्शन और अलंकारशास्त्र पर इनमें ग्रन्थ हैं जिनमें संस्कृत शब्दों का मुश्किल से ही कहीं व्यवहार मिलता है”।^३ हिन्दी में ऐसी शब्दावली और अभिव्यञ्जन शक्ति, जो किसी भाषा से कम न थी, रहते हुए भी संस्कृत शब्दों का व्यवहार फैशन बन गया। तत्सम की ओर यह झुकाव एक शताब्दी से कम पुराना है और इसने आधुनिक हिन्दी को केवल प्रादेशिक भाषाओं से ही नहीं दिल्ली के क्षेत्र के आसपास की खड़ी बोली से भी दूर कर दिया है।

हिन्दी और उर्दू के एक ही क्षेत्र में दो विभिन्न वर्गों की भाषा होने के सम्बन्ध में विवाद बड़ी सरलता से सुलभ सकता है जब यह समझ लिया जाय कि उर्दू और हिन्दी दोनों दिल्ली और उसके आसपास की सामान्य भाषा खड़ी

१. दे० हिन्दी शब्दसागर की भूमिका : का० ना० प्र० सभा।

२. ग्रियर्सन : “तद्भव शब्द वे हैं जो आधुनिक देशी भाषाओं में प्राकृत उद्गमों से आये हैं तथा तत्सम शब्द वे हैं जो आगे चलकर संस्कृत से वास्तविक या काल्पनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उधार ले लिये गए।”

३. लिग्विस्टिक सर्वे आध इण्डिया—खण्ड ६, पृ० ५५।

बोली से निकली हुई वर्ग अपभाषाएँ हैं।

खड़ी बोली हिन्दी के प्रादेशिक भाषाओं से सम्बन्ध का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा। इसी प्रकार हिन्दी भाषा के उचित व्यवहार, उसे समृद्ध बनाने और उसकी महान् परम्परा को आगे विस्तृत करने का विवेचन भी आगे किया जायगा। यहाँ उनकी आम बोलचाल की न होने की प्रकृति पर बल देने की आवश्यकता है। केवल सम्भाषणोत्तर भाषाएँ और वर्गों की अपभाषाएँ ही आधुनिक हिन्दी की तरह अस्मात् उन्मज्जित हो सकती हैं। इसकी सम्भाषणोत्तर प्रकृति को वे लोग भी स्वीकार करते हैं जो इसे समस्त हिन्दी प्रदेश की मातृ भाषा मानते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित हिन्दी-शब्दसागर में यह इंगित किया गया है कि हिन्दी को आज वही स्थान प्राप्त करना है जो गुप्तकाल में संस्कृत को प्राप्त था; चाहे उस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषाओं से कितनी ही अलग क्यों न रही हो, इसका कोई विचार नहीं किया गया। डॉ० रामविलास शर्मा ने स्वीकार किया है कि गाँवों में लोग कई बोलियाँ बोलते हैं जो मिलाकर अवधी, ब्रजभाषा इत्यादि में वर्गीकृत की जा सकती^१ हैं। डा० सु० कु० चटर्जी कहते हैं कि खड़ी बोली की केवल अल्प प्रारम्भिक शब्दावली ही सामान्यतः उत्तरीभारत में 'बाजारी हिन्दुस्तानी' या 'लघु हिन्दी' के रूप में समझी जाती है और यह सांस्कृतिक प्रयोजन के लिए नितान्त असमर्थ है। उनका सुझाव है कि इसको और अधिक कृत्रिम बनाकर इसके व्याकरण को सरल कर देना चाहिए और समस्त संज्ञाओं और क्रियाओं को पुल्लिग कर देना चाहिए। इससे वह हिन्दुस्तानी प्रदेश के बहुभाषी नगरों की आपसी वार्तालाप के लिए उत्तम हो जायगी।^२ एक सम्भाषणोत्तर भाषा ही के व्याकरणों के नियमों का इस प्रकार निर्माण किया जा सकता है। बोलचाल की भाषा के व्याकरण में तो भाषा के केवल प्रेक्षित तथ्य का संग्रह ही होता है।

मुन्शी प्रेमचन्द ने उर्दू के मुसलमानों की भाषा होने की ओर संकेत किया है^३। उन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया है कि "हिन्दी में प्राचीन

१. रामविलास शर्मा : आन दि लंग्वेज क्वेंडचन इन इण्डिया, दि कम्प्यूनिस्ट सि० अ० १९५६।

२. वे : सु० कु० चटर्जी : इन्डोआर्यन एण्ड हिन्दी :

३. मुन्शी प्रेमचन्द ने १९१५ में अपने एक पत्र में मुन्शी दिया नारायण निगम सम्पादक 'जमाना' को लिखा था : "प्रेम-पच्चीसी के हिन्दी तर्जुमे के लिए कई जगह से असरार हो रहे हैं। मैं खुद ही इस काम को हाथ में लूँगा।

साहित्य ही कहाँ है। ब्रजभाषा अवधी का साहित्य हिन्दी-साहित्य नहीं है।^१ ब्रजभाषा, अवधी तथा अन्य भाषाएँ इतनी शीघ्रता से समाप्त नहीं हो सकती थीं जितनी शीघ्रता से हिन्दी अस्तित्व में आई। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास इसके बोलचाल की भाषा न होने को मान्यता देता रहा है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में और ब्रजरत्नदास ने 'खड़ी बोली का इतिहास' में लिखा है कि प्रारम्भ में खड़ी बोली हिन्दी को ठीक तरह से मुन्शी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लत्तूलाल और सदल मिश्र ने १८०१ ई० के लगभग फोर्ट विलियम में बनाया, यद्यपि दोनों ने यह स्पष्ट किया है कि यह अंग्रेजों के प्रभाव से नहीं हुआ था। उपर्युक्त चारों व्यक्तियों की रचनाओं पर आधुनिक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू तथा कुछ प्रादेशिक भाषाएँ अधिक दावा करती हैं। इसी काल में विलियम कैरी द्वारा बाइबिल का संस्कृतमयी हिन्दी में अनुवाद किये जाने की ओर भी संकेत किया गया है। इसके बाद कहा जाता है कि हिन्दी में १८०३ से १८५८ ई० तक वस्तुतः शून्यता रही और भारतेन्दु काल में इसका वास्तविक प्रारम्भ हुआ। हिन्दी कविता ने अपना रूप निर्धारित करने में और अधिक समय लगाया। इस शताब्दी के प्रारम्भ से प्रारम्भ होकर उसने काव्य की भाषा के रूप में ब्रजभाषा का स्थान लेने में दो दशाब्दियों से अधिक समय लिया।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक हिन्दी एक बोलचाल की भाषा नहीं है और हिन्दी क्षेत्र में बोलचाल की भाषाएँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए हैं। उनका अपना स्वतन्त्र साहित्य है, यद्यपि वह हिन्दी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत अब नहीं रखा जाता, जैसा आधुनिक हिन्दी काल के पूर्व किया जाता था। आधुनिक हिन्दी के कृत्रिम रूप को न स्वीकार करने से और उसे समस्त हिन्दी क्षेत्र की बोलचालकी भाषा समझने से हम इस महान् परम्परा के महत्त्व और उसकी सम्भावनाओं की ओर से आँखें मूंद लेते हैं। संसार में कहीं भी किसी विभिन्न-भाषी जनता को ऐसी एकीकरण करने वाली शक्ति नहीं मिली। यह आवश्यक नहीं, कि ब्रज, अवधी, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली, मागधी बोलने वालों को सम्पूर्ण रूप से आधुनिक अर्थ में राष्ट्र स्वीकार कर लिया जाय या इन भाषाओं को

अब हिन्दी लिखने की मदद कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुजर नहीं है...

उर्दू-नवीसी में किस हिन्दू को फंज हुआ जो मुझे हो।"

१. 'खड़ी बोली हिन्दी के इतिहास में' ब्रजरत्नदास द्वारा उद्धृत।

२. ब्रजरत्नदास—खड़ी बोली हिन्दी का इतिहास।

पूर्ण रूप से विकसित राष्ट्र भाषाएँ माना जाय । किन्तु ये करोड़ों लोगों की मातृभाषा के रूप में वर्तमान हैं और इनके अस्तित्व को किसी ने कभी अस्वीकार नहीं किया । हिन्दी को बोलचाल की और समस्त हिन्दी-प्रदेशों की मातृभाषा के रूप में मानना भूल होगी ।

हमारे इतिहास की विशेषताओं ने हिन्दी (खड़ी बोली) को ऐसी भाषा बनाया है जिसके अनेक तत्त्व बोलचाल की भाषाओं के ऊपर, बिना उनको हानि पहुँचाये, प्रभाव डालते रहे हैं । यदि ऐसा अन्य कहीं नहीं हुआ तो इस-लिए कि हिन्दी को आधुनिक स्थिति में लाने वाले कारण हमारे देश की विशेषता थे । आधुनिक हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का सह-अस्तित्व और बन्धुतापूर्ण आदान-प्रदान हिन्दी क्षेत्र की जनता की सांस्कृतिक आवश्यकता है । इसके बिना स्वयं हिन्दी मुरझा और सूख-सड़ जायगी ।

हिन्दी और कुछ विदेशी भाषाएँ—समता और भिन्नता

यूरोप तथा अन्य देशों के भाषा सम्बन्धी इतिहास से बहुधा यह स्थापित करने के लिये सादृश्य-प्रमाण खोजे जाते हैं कि आधुनिक हिन्दी साधारणतः उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषा के रूप में विकसित हुई और उसकी विभिन्न बोलियाँ या तो लोप हो गईं या लोप होने की अवस्था में हैं। इस सम्बन्ध में इस बात पर कम विचार किया जाता है कि ये सादृश्य-प्रमाण विभिन्न लोगों की भौतिक और सांस्कृतिक विशिष्टता समझे बिना ही दिये जा रहे हैं। इससे भी अधिक हानिकारक बात यह है कि ये सादृश्य-प्रमाण प्रायः पूर्ण ज्ञान पर आधारित नहीं होते अथवा किसी विशिष्ट तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए कल्पित तर्क मात्र होते हैं।

बहुधा अंगरेजी भाषा का सादृश्य-प्रमाण दिया जाता है और यह कहा जाता है कि अंगरेजी ने वेल्श और केल्टिक भाषाओं तक को दबा दिया और इस प्रकार ब्रिटिश द्वीपों की बोलियों का निराकरण कर देने के कारण लन्दन के आसपास की बोली समस्त देश की राष्ट्रभाषा बन गई। ब्रिटेन में भाषा सम्बन्धी उद्गम के आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार किये बिना ही इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि क्या अंगरेजी ने वास्तव में वेल्श और केल्टिक को मिटा दिया। इसका व्यवहार करने वालों की संख्या यद्यपि बहुत थोड़ी है फिर भी उनका विशिष्ट अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से चला आता है।

यह स्थापित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि ब्रिटेन की वेल्श आदि भाषाएँ केवल प्रचलित और जीवित ही नहीं हैं किन्तु इधर वर्षों से अत्यन्त तीव्रगति से अपने को समृद्ध भी बना रही हैं। टाइम्स (लन्दन) में हाल ही में प्रकाशित “दू लिटरेचर्स आफ वेल्स” के तुलनात्मक सिंहावलोकन में यह निर्देशित किया गया है कि वेल्शभाषा में साहित्य का महान् भण्डार विद्यमान है। एंग्लो-वेल्श लेखकों की अपेक्षा इसमें वेल्श लेखक अपना अंशदान

कहीं अधिक दे रहे हैं।^१

यह एक आश्चर्य की बात मानी जाती है कि ग्रेटब्रिटेन सरीखे छोटे से द्वीप में, जिसकी जनसंख्या केवल ४ करोड़ हो, बीस लाख वेल्श लोगों का एक छोटा सा प्रदेश भी वर्तमान हो, जिसकी अपनी भाषा हो और जो अंगरेजी से भिन्न और असम्बन्धित हो।^२ इस भाषा को उखाड़ने और मिटा देने के लिए वेल्श जाति को उखाड़ने और मिटाने के नृशंस प्रयास किये गए, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। एक शताब्दी पूर्व जब इंग्लैण्ड ने वेल्स लोगों पर आधिक आधिपत्य प्रारम्भ किया तब कठिनता से ही कोई वेल्स-निवासी अंगरेजी बोल सकता था। किन्तु अब आधे वेल्स-निवासी अपनी मातृभाषा नहीं बोल सकते। ब्रिटिश सरकार ने वेल्स जाति को मिटाने के लिए नृशंस कार्रवाइयाँ कीं। इसका उदाहरण देते हुए वाइन ग्रिफिथ लिखते हैं : “(दो महायुद्धों के बीच) जब हम सब पर महामन्दी के दिन आये तब सरकार ने आर्थिक कष्टों को दूर करने के लिए देश के २,५०,००० नवयुवकों को वहाँ से हटाकर ले जाने का निश्चय किया। इस पर विश्वास करना कठिन है, क्योंकि यह संख्या वेल्स-सरीखी छोटी जाति की आधी युवक संख्या है, किन्तु ऐसा हुआ।” वाइन ग्रिफिथ पुनः कहते^३ हैं—“देश में जब इस प्रकार जीवन-शक्ति का ह्रास हो रहा था, तब कुछ लोगों की समझ में यह बात आई कि यथार्थ रूप में प्रथम विनाश तो उस विशिष्ट राष्ट्रीय चेतना का होगा जो वेल्श भाषा में निहित है। यदि ऐसा हो गया तो बाकी सब कुछ बहुत शीघ्र जाता रहेगा। राज्य की दृष्टि में वेल्स एक जाति न थी किन्तु एक लम्बी सूची के नीचे काउंटियों का समूह था जिनका कोई महत्त्व न था और जो प्रशासन के लिए असुविधाजनक थीं...वेल्स प्रदेश निर्जीव और महत्त्वहीन होता जा रहा था। तिस पर भी वेल्स में ऐसे कवि हुए, जैसे शताब्दियों से देश में उत्पन्न नहीं हुए थे, ऐसे उत्तम कहानी-लेखक जैसे पहले कदाचित् ही हुए हों तथा भाषा और उसके साहित्य के ऐसे उत्तम विद्वानों का अविर्भाव हुआ, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। महान् साहित्य सृष्टि हुई और उसका विस्तृत प्रभाव पड़ा। लिखित भाषा में एक नवीन चमक आई और वह हर प्रकार के विषयों को ग्रहण करने के लिए अग्रसर हुई।”

इसी प्रकार आयरिश भाषा को मिटा देने के समस्त प्रयास निष्फल रहे,

१. टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट, लन्दन, ५ अगस्त, १९५५।

२. वाइन ग्रिफिथ : दि बायस आव वेल्स—ब्रिटिश कोन्सिल।

३. वाइन ग्रिफिथ : दि वेल्श—(पेंगुइन बुक्स, लन्दन)।

यद्यपि आज वह आयरलैण्ड की २० प्रतिशत जनता द्वारा ही बोलचाल के काम में आती है। १८४० में आयरलैण्ड की जनसंख्या ७० लाख थी। १८४४-४६ के ब्रिटिश कृत दुर्भिक्ष में ४० लाख से अधिक व्यक्ति मर गये। उसके बाद की आठ दशाब्दियों में ३० लाख देश छोड़कर चले गए। इसके अतिरिक्त उन पर अंगरेजी भाषा जबरदस्ती लादी गई और भूमि पर अधिकार जमाने के लिए अंग्रेजों के भुण्ड-के-भुण्ड आये। इन सब बातों के बावजूद भी यदि आज आयरिश भाषा और आयरिश राष्ट्रीयता जीवित है तो इससे यह सिद्ध होता है कि किसी जन-भाषा का मिटाना कितना कठिन है। इस सम्बन्ध में प्रो० कुकरिन का मत है :

“१८४१ में साढ़े साठ लाख की जनसंख्या और प्रथम विश्वमहायुद्ध के पूर्व केवल तीस लाख आयरिश, आंगकों की यह भयानक कहानी है—ऐसी कहानी जिसमें धीरे-धीरे परिसमाप्ति और बलपूर्वक उत्प्रवासन ऐसे पैमाने पर किया जाता है जैसा पिछली शताब्दी में किसी यूरोपीय देश में नहीं हुआ। आयरलैण्ड की जनसंख्या के अंक अब स्थायी हो गये हैं, उत्प्रवासन और मन्थर मृत्यु बन्द हो गई है और राष्ट्र ने अभी हाल में अपनी जीवनशक्ति पुनः प्राप्त करना प्रारम्भ किया है। आयरिश बुद्धिजीवी अब अपनी भाषा अपनाने लगे हैं। पुस्तकें और समाचारपत्रों के कुछ भाग वहाँ की ‘इरसे’ भाषा में तथा सरकारी प्रलेख, दोनों (इरसे और अंग्रेजी) भाषाओं में, प्रकाशित होते हैं।”^१

जहाँ कहीं शताब्दियों के प्रयास द्वारा एक भाषा को मिटाने में सफलता भी हुई, वहाँ की जनता ने साधारणतः अपनी आत्मसमृति और अलगाव की भावना का समर्पण नहीं किया। ब्रिटिश द्वीप की स्काच-गेलिक भाषा वस्तुतः मिट चुकी है किन्तु स्काटों की राष्ट्रीयता का संघर्ष नहीं समाप्त हुआ। कुछ वर्ष हुए ब्रिटिश सिंहासन के नीचे से “स्टोन आव डेस्टनी” (विधि-प्रस्तर) की नाटकीय चोरी ने इस बात की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया था। डॉ० जान मेक्कॉर्मिक ने स्कॉटलैण्ड में ‘स्कॉटिश राष्ट्रीय आन्दोलन’ के प्रभाव की ओर ध्यान खींचा है।^२ ‘स्कॉट रेनेसां’ के सम्बन्ध में श्री रिश केडलर लिखते हैं :

“स्कॉटों के पुनरुत्थान की ‘स्कॉटिश प्रमाणपत्र’ अदभुत अभिव्यक्ति है।

१. वि इमरल्ड आइलस—न्यू टाइम्स, मास्को—२२ सितम्बर, १९५५।

२. डॉ० जान मेक्कॉर्मिक : वि फलैग इन वि विन्ड : वि स्टोरी आव वि नेशनल मूवमेंट इन स्कॉटलैण्ड—गोलांस १९५५।

इस पर स्कॉटलैण्ड के आधे वोटरों ने हस्ताक्षर किये हैं। यह एक ऐसी बात है जो उपेक्षित नहीं की जा सकती। 'स्काटलैंड निवासी बहुत अभिमान से सांस्कृतिक क्षेत्र में 'नवजागरण की ओर इंगित करते हैं'।^१

यह पहले ही देखा जा चुका है कि अंगरेजी भाषा की अन्य बोलियों का स्थान लन्दन की बोली ने नहीं लिया। कुछ शताब्दियों तक लन्दन सब बोलियों के क्षेत्रों के लोगों को चूसता रहा और फिर उसने एक ऐसे मूषा का काम किया जिसमें ये बोलियाँ परस्पर घुलमिल गईं और ऐतिहासिक रूप से अंगरेजी भाषा का उद्गम हुआ। ऊपर वेल्श, आयरिश और गेलिक भाषाओं के उल्लेख से यह निर्देशित होता है कि जहाँ किसी कारण एक बोली या भाषा इस प्रकार घुलमिल नहीं सकती वहाँ वह अलग विकसित होती रही और मिटाने के समस्त प्रयासों का प्रतिरोध करती रही है। अगर कहीं ये प्रयास सफल हो जाते हैं, तो भी वहाँ की जनता अपनी भिन्न सत्ता बनाये रखती है। अमरीकन-अंगरेजी की 'गुल्ला' बोली के अध्ययन से पता चलेगा कि इसके बोलने वाले दास नीग्रो अमरीका लाये जाने के दो शताब्दियों पश्चात्, अपनी मूल बोली बिल्कुल भूल जाने पर भी, पूर्वजों की अफ्रीकन भाषा के व्याकरणों के रूपों, जैसे वाक्य में क्रिया का न होना आदि, का व्यवहार करते रहते हैं।^२

कई समाजशास्त्रियों ने यह दिखाया है कि अमरीकन आवासी अंगरेजी के पक्ष में अपनी भाषा छोड़ने पर अपने आपको पराया-पराया और उखड़ा-उखड़ा सा अनुभव करते हैं।^३ बर्नार्ड शॉ का प्रसिद्ध कथन कि अंगरेजी भाषा अंगरेजों और अमरीकनों को अलग करती है केवल व्यंग्य ही नहीं है। अपनी पुस्तक 'अमेरिकन इन दू इंगलिश' की भूमिका में श्री कैरे^४ ने बताया है कि कैसे अमरीकनों की सैकड़ों पुस्तकों के प्रूफ ठीक करने का काम करते हुए उन्होंने चालू अमरीकन शब्दावली का संग्रह और विश्लेषण किया है जिसे परिवर्तन करना पड़ा ताकि वे अंगरेजी में विचित्र न लगें। अमरीकनों और अंगरेजों के बीच आजकल सब प्रकार के घनिष्ठ सम्बन्धों के होते हुए भी यदि उनकी भाषाएँ दो शताब्दियों में अलग हो सकती हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दुस्तानी या हिन्दी-क्षेत्र के लोगों की भाषायें भी, जो सहस्राब्दियों से वर्तमान हैं, अपने-अपने प्रदेशों में स्वभावानुसार बढ़ती रही हैं।

१. न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन : लन्दन, मार्च १७, १९५१।

२. एल० डी० टर्नर : अफ्रीकेनिज्म इन दि गुल्ला डायलैक्ट।

३. वे०, आस्कर हेण्डलिन : दि अपस्टेट; कार्ल सेण्डवर्ग : दि लोनली क्राउड।

४. स्टीफेन स्पेंडर की 'दि मेरिक्न ग्राव ए पोयम्' से उद्धृत।

आधुनिक हिन्दी की तुलना रूसी भाषा से करना भी गलत है। हिन्दी प्रदेश की जनता और भाषा की तुलना स्लावोनिक जनता और भाषा से करना ठीक होगा। बहुतसी स्लावोनिक बोलियाँ जो आज सर्वथा अलग भाषा स्वीकार की जा रही हैं, कुछ दशाब्दियों पूर्व केवल बोलियाँ ही मानी जाती थीं और उनका भविष्य अन्धकारपूर्ण समझा जाता था। रूसी क्रांति के पूर्व, केवल चार सरकार ही नहीं किन्तु समस्त स्लेव देशों का शासक-वर्ग एक स्लेव राष्ट्र में विश्वास रखता था और उसकी पूर्ति के लिए सक्रिय कार्य करता रहता था तथा बारम्बार समस्त स्लावोनिक जाति समुदाय के 'राष्ट्र' के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पर जोर देता रहता था। बहुत सी स्लाव भाषाएँ अस्तित्वहीन समझी जाती थीं। इनमें दो करोड़ जनता द्वारा बोली जाने वाली रूथेनियन भाषा भी सम्मिलित थी। १८७२ में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ टोमिश्क ने लिखा था : "यूरोप में हम स्लेव सबसे अधिक शक्तिशाली हैं... हमारे लिए सबसे अधिक आवश्यकता एक सामान्य भाषा की है।"^१ एक के बाद दूसरी स्लावोनिक महासभा ने समस्त स्लेव संसार के लिए किसी स्लावोनिक बोली को एक सामान्य भाषा के लिए चुनने की आवश्यकता पर अपना विश्वास 'निश्चय-पूर्वक घोषित' किया था। विभिन्न स्लाव भाषाओं के कोषों का परीक्षण उन्हें केवल बोलियाँ, प्रमाणित करने के लिए किया गया। वे उनमें आश्चर्यजनक सादृश्य भी 'प्रमाणित' कर सके। इनमें बहुत सी भाषाएँ प्रथम विश्व महायुद्ध तक अपना स्थान तक प्राप्त नहीं कर पाईं थीं और कुछ भाषाएँ रूसी क्रांति तक इतनी प्रसुप्तावस्था में थीं कि सोवियत सरकार पर उन्हें खोदकर निकालने का दोषारोपण किया गया था। इस बात पर जोर देते हुए कि वेलिकीरूसी (महान् रूसी), यूक्रेनियन और बाइलोरूसी भाषा और संस्कृति सजातीय हैं और उनका उद्गम सामान्य है, सोवियत सरकार ने इस पर आग्रह किया कि उन्हें अविभिन्न समझने की भूल न की जाय।^२ इसी सजातीयता के आधार पर उत्तरी भारत की भाषायें एक समझी जा रही हैं। हिन्दी प्रदेश की भाषाओं में भी स्लाव भाषाओं के समान परस्पर गहरा सादृश्य है और १९१७ के पूर्व बहुतेरी स्लावभाषाओं के समान, उनमें भी कई प्रसुप्तावस्था में हैं, किन्तु वे अवश्य फूलें फलेंगी। स्लाव-जनता की अपेक्षा उत्तरी भारत की जनता को एक लाभ यह है कि अपनी बोलचाल की भाषाओं

१. कार्ल एबल : लिग्विस्टिक एसेज्।

२. वे० हिस्टरी ऑफ यू०एस०एस० आर०, भाग १: फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को।

के अतिरिक्त उनके ऊपर फैली हुई उन्हें एक सम्भाव्यतर भाषा हिन्दी भी मिली है जो कुछ शताब्दियों के क्रम द्वारा एक सामान्य बोलचाल की भाषा का विकास और देशों की अपेक्षा सरल कर देगी।

आधुनिक हिन्दी रूसी भाषा की अपेक्षा 'चर्च स्लावोनिक' के अधिक समान प्रतीत होती है। 'चर्च स्लावोनिक' और रूसी भाषा दोनों का जन्म 'प्राचीन बल्गेरियन' से हुआ था जो बोलगा नदी की उपजातियों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं के सदृश थी।^१ रूसी भाषा जनता की समृद्ध भिन्न-भिन्न भाषाओं द्वारा प्रभावित होती रही और, जैसा कि कई भाषाओं के साथ हुआ, कभी भी जनभाषाओं और बोलियों से पृथक् नहीं हुई। इसके विपरीत 'चर्च स्लावोनिक' ने जनसाधारण की बोलियों से अपने को अलग कर लिया। जितनी अधिक वह केवल चर्च सेवाओं के काम में लाई गई उतनी ही वह जनता की भाषा से अलग होती गई। विश्वविद्यालय के कीव से मास्को चले जाने के पश्चात् रूसी भाषा तेजी से विकसित होने लगी। १८वीं शताब्दी में वह साहित्यिक भाषा के रूप में आगे आने लगी और उसने पहले की आठम्वरपूर्ण पुस्तकी भाषा चर्च स्लावोनिक को, जो बहुत कुछ हमारी उच्च हिन्दी के समान थी, बिलकुल परे ढकेल दिया।

रूसी क्रांति के पूर्व भी कुछ रूसी तथा अन्य लेखक ऐसे थे जो अपनी मातृभाषा में न लिखकर 'चर्च स्लावोनिक' भाषा में लिखते थे। दो-तीन शताब्दियों पूर्व अधिकांश अंग्रेज लेखक लेटिन या फ्रेंच में लिखते थे। यद्यपि शताब्दियों तक पुर्तगाली भाषा में लिखे गये 'रोमेन्सीरो' गीत दक्षिण-पच्छिम यूरोप में जनप्रिय रहे, किन्तु अभी कुछ समय तक वह 'स्पेन की लेटिन' की एक शाखा ही मानी जाती रही थी। १९वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध पुर्तगाली लेखक स्पेनिश भाषा ही में लिखते थे और जॉर्गे दे मुतिमार तथा मानोल द मेलो सरीखे कुछ लेखकों ने उस भाषा में सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ की हैं जो स्पेनी भाषा में प्रतिष्ठित कृतियाँ मानी जाती हैं। इसी प्रकार यदि आज के हिन्दी लेखक ऐसी भाषा में लिखते हैं जो उनकी बोलचाल की भाषा नहीं है तो उसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनकी मातृभाषा का स्थान हिन्दी ने ले लिया है।

फ्रेंच भाषा द्वारा प्रुवन्कैल का स्थान लेने की ओर भी संकेत किया जाता है। बहुत से लोग इसे स्वीकार नहीं करते हैं कि प्रुवन्कैल भाषा बिलकुल लोप हो गई है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यदि किसी हद तक प्रुवन्कैल भाषा का स्थान लेने में फ्रेंच भाषा सफल हुई है तो इसका

१. अन्ना एच० सेमोयनाफ़ : ए न्यू रशियन ग्रामर।

कारण यह नहीं कि पेरिस की बोली का समस्त फ्रांस की भाषा के रूप में प्रादुर्भाव हुआ था। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में प्रुवन्कैल भाषा ईसाई धर्म में मानवतावाद और रूढ़ि-विरोध की महान् भाषा के रूप में दूर-दूर तक फैल गई थी। इन अलबीजेनसियन, वाल्डेन्सियन और समान मानवतावादी सामन्त-विरोधी 'नास्तिकों' के विरुद्ध 'धर्म युद्ध' निरन्तर चलते रहे। उत्तरी फ्रांस की सेनाएं बारम्बार उन पर धावा करती रहीं और १२०६ और १२४४^१ के क्रूसेड—जिहाद—में समस्त प्रदेश उजाड़ कर दिया गया। यदि खड़ी बोली हिन्दी को सचमुच प्रादेशिक भाषाओं का स्थान लेना है तो उसके लिए भी ऐसे 'जिहाद' करने आवश्यक होंगे।

पिछले वर्षों में, दक्षिण-पच्छिम फ्रांस की बोलियों में, जिनकी प्रुवन्कैल पूर्वज थी, उच्चकोटि की युद्ध-विरोधी और प्रगतिवादी काव्य-रचना हुई है। इसी तरह पिछली कुछ दशाब्दियों से यहूदियों की भाषा यिड्डिश ने साहित्य की ओजस्वी भाषा के रूप में जन्म लिया है। यिड्डिश के साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हो जाने पर नाथन ग्रासबेल ने लिखा है : 'यिड्डिश ने (यहूदी) जनता के दैनिक व्यवहार में आनेवाली भाषा के रूप में सेवा की है। वह सामान्य व्यवहार में तथा क्रय और बिक्रय के लिए पर्याप्त अच्छी, किन्तु साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त हीन समझी जाती थी। उस महान् प्रयोजन के लिए केवल पवित्र हिब्रू ही उपयुक्त थी। अभी तक यहूदी साहित्य एक मध्यवर्गीय आन्दोलन था। हिब्रू के विद्वानों की सुन्दर साहित्यिक कृतियों का विचार करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि उन्होंने वैसी ही बौद्धिक हेकड़ी का प्रमाण दिया जिसके कारण आज उच्च वर्ग के हिन्दू देशी हिन्दुस्तानी में नहीं संस्कृतमयी भाषा में लिख रहे हैं' 'हिब्रू के विद्वानों ने यिड्डिश को, सुनने में भद्दी अपभाषा कहकर और यहूदियों के पिछड़ेपन और अपमानजनक स्थिति की दुःखद स्मृति की प्रतीक बताकर तिरस्कृत किया। भाग्यवश उसी काल में अन्य तथा अधिक शक्तिशाली ऐतिहासिक शक्तियाँ उभर रहीं थीं। निरंकुश राज्य के विरुद्ध क्रांतिमय संघर्ष, एक विशाल यहूदी श्रमिक श्रेणी का उत्थान और निम्न मध्यवर्गों की बेकारी तथा सर्वग्राही दरिद्रता—ये सब यिड्डिश भाषा में नवजागृति के लिए अनुकूल प्रेरक कारण हुए।'^२

पच्छिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में छः करोड़ से ऊपर जनता की

१. डे० सिडनी फिकलिस्टीन : हाऊ न्यूजिक एक्सप्रेसस आइडियाज : इण्टर-नेशनल पब्लिशिंग, न्यूयार्क।

२. दि लेंगेज आव शोलेम अलीकेम—दि न्यू मासेज न्यूयार्क २६ नवम्बर, १९४६

अरबी भाषा में आधे दर्जन से अधिक बोलियाँ हैं जिनमें हिन्दी की बोलियों की अपेक्षा परस्पर कम भेद हैं। इसका कारण उन पर कुरान की अरबी का गहन प्रभाव है, जो शताब्दियों से अरबी जनता पर उनके धार्मिक जीवन की अनिवार्य भाषा के रूप में पड़ता रहा है। इस पर भी अरबी की ये बोलियाँ भिन्न भाषाएँ और उनके बोलने वाले भिन्न राष्ट्र माने जाते हैं।

कुछ लोग आधुनिक हिन्दी के बोलचाल के स्वरूप का समर्थन चीनी भाषा के सादृश्य से करते हैं। कहा जाता है कि भारत के समान चीन में भी 'एशियायी सामन्ती समाज' था और हिन्दी क्षेत्र की समस्त जनता के लिए हिन्दी 'मातृ भाषा' के रूप में वैसे ही विकसित हुई जैसे मण्डारिन भाषा ने समस्त हान जाति की, जो चीन की जनसंख्या का १५।१६वां भाग है, मातृभाषा का रूप धारण किया।

प्रथम, अब यह तथ्य प्रकाश में आ रहा है कि चीनी सामन्त-व्यवस्था एशिया और यूरोप की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च प्रौद्योगिक स्तर पर थी। आधुनिक यूरोप के निर्माण में चीनी उपकरणों और प्रविधियों के अंशदान का पहले उल्लेख किया जा चुका है। भारतीय और चीनी सभ्यता का भेद ह्वानसांग के अन्तिम प्रवचन से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने भारत से जाने के पूर्व नालन्दा के भिक्षुओं को दिया था। इसकी ओर संकेत करते हुए ग्राडसेट कहते हैं: "इस वस्तुता में कैसे उल्लास से, चीनी सूक्ष्मता, वैज्ञानिक भावना और विन्यास की भारत की राजनीतिक अक्षमता और दाम्भिक उदासीनता से तुलना की गई है।"

चीनी और भारतीय जनता की तुलना करते हुए श्रीमती केनेथ स्कॉट लाटूरेज लिखती हैं: "जाति के समस्त रूपान्तरों के रहते हुए भी चीनी जनता का महान् समूह शारीरिक दिखावट और संस्कृति में असाधारण रूप से सजातीय है। ये भेद न इतने सुस्पष्ट हैं और न इतने अनेक जितने पच्छिमी यूरोप, 'निकट-पूर्व' या भारत में हैं। सम्भवतः सारूप्य की ओर प्रवृत्ति मुख्यतः उस शासन और संस्कृति के रूप के कारण है जिसमें चीनी जनता रही है। साम्राज्य के राजनीतिक ढाँचे ने लोगों को एक सांस्कृतिक इकाई में संघटित कर दिया था क्योंकि वह एक ऐसे परम्परानिष्ठ अधिकारीतन्त्र द्वारा बनाया जाता था जो सदा इस निष्ठा का संचार करता रहता था और इस तरह देश को सांस्कृतिक ऐक्य की ओर बढ़ाता रहता था। राजनीतिक एकता के कारण साम्राज्य में जनता के गमनागमन में कोई रोक-टोक न रही।

१. जे० नीडम द्वारा साहंस एण्ड सिविलिजेशन इन चाइना-भाग १, से उद्धृत।

इनमें से कुछ राज्य द्वारा आयोजित होते थे—जैसे चिन्ह और हान के अन्तर्गत विस्तृत उपनिवेशन और बलात् प्रवसन। अन्य पूर्णतः स्वैच्छिक होते थे और बहुधा विशाल दुर्भिक्षों के समय में होते थे, जब सहस्रों शरणार्थी अपने पुराने घरों को छोड़कर आहार की खोज में भाग निकलते थे। सुस्पष्ट वर्णभेद का अभाव था और शक्तिशाली अधिकारीवर्ग की भरती जन्म पर आधारित न होकर जन-पद-सेवा परीक्षा द्वारा प्रकट योग्यता के आधार पर होती थी; जिसने बहुत कुछ परिवर्तनशील समाज के सृजन में सहायता दी, जिसमें विस्तृत अन्तरविवाह अपेक्षाकृत सरल थे। प्राचीन रीति कि कोई भी अपने कुल-नाम की वधू से विवाह न कर सकेगा, इसी दिशा की ओर प्रवर्तन था। विजेताओं को पर्याप्त शीघ्रता से आत्मसात् कर लिया जाता था। भारत में इसके बिल्कुल विपरीत दशा थी जहाँ वर्णसीमाएँ जातियों को अलग रखने में और उत्तरोत्तर आक्रमणों के प्रवाहों में रक्त-भेद परिरक्षित रखने में सचेष्ट थीं। अपने इतिहास के अधिकांश भाग में चीन की राजनीतिक एकता और साम्राज्य के अन्तर्गत प्रवसन के लिए आन्तरिक राजनीतिक बाधाओं के अभाव ने एकरूपता प्रदान की, जिससे कि यूरोप वंचित रहा। परिणामतः चीनियों के बराबर संख्या में मानवजाति का कोई भी भाग कहीं उनके समान सजातित्व का विकास नहीं कर सका।”^१

दूसरे, चीनी भाषा समस्त चीनी या हान जनता की, जिसकी यह राष्ट्र-भाषा है, बोलचाल की भाषा या मातृभाषा नहीं मानी जाती। चीनी भाषा और संस्कृति पर लिखी गई प्रत्येक कृति, चीन के विभिन्न भागों में सुस्पष्ट भाषा-सम्बन्धी भेद का संकेत करती है।^२ दक्षिण के क्वानटुंग प्रान्त से, जहाँ केन्टनी और सुदूर अन्दर हक्का बोलियाँ बोली जाती हैं, आरम्भ कर और उत्तर की ओर चलकर हमें क्रमशः निम्न बोलियाँ मिलती हैं—स्वाटाउ, अमोय, फूचाउ, वेनचाउ, निगपो और वू। आगे उत्तर में मण्डारिन (कयोयू अर्थात् सरकारी भाषा) की भी कई बोलियाँ हैं जिसका पैकिंग की बोली अब प्रामाणिक रूप है। चीन में बोलियों के भेद पर जे० नीढम का विचार है—

“चीन के मानव भूगोल का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में परस्पर समझ में न आने वाली अनेक बोलियाँ बोली

१. केनिथ चकाट लेटुरेश : बि चाइनीज़, बेयर कल्चर एण्ड हिस्ट्री।
२. बे०, सी० पी० फिटज़ग्रेल्ल्ड : चाइना एं शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, मार्शल ग्रानेट : चाइनीज़ सिविलिजेशन, प्रो० गाइल्स : चाइना एण्ड बि चाइनीज़, और वाल्टर सी० हिल्लर : दी चाइनीज़ लैंग्वेज एण्ड हाऊ टू लर्न इट।

जाती हैं। उदाहरण के लिए कूकिन, फूचाउ और अमोय नगरों के दोनों मुख्य भागों की अपनी-अपनी बोलियाँ हैं... इस प्रकार चेकियांग में कई प्रकार की वू बोलियाँ हैं, फूकिंग में और बहुतेरी हैं, फिर तट के किनारे केन्टनी है, जो सब वयोयू से भिन्न हैं।”^१

चीन की भाषाओं का उल्लेख करते हुए वाल्टर सी० हिल्लर लिखते हैं : “ इस स्थान पर यह बताना उचित होगा कि चीन जो अपने दीर्घ इतिहास में कई बार छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित होता रहा है, ऐसा देश नहीं जिसमें प्रादेशिक भेदों के साथ एक ही भाषा बोली जाती हो। इसके विपरीत लगभग आठ पूरी तरह निरूपित उपभाषाएँ हैं।”^२

चीन के कुछ भागों में बोलचाल की भाषाओं का चीनी राष्ट्रभाषा से भिन्न होने का तथ्य अन्य स्थानों की अपेक्षा चीन में कम महत्वपूर्ण है। इसका कारण चीनी भाषा और बोलियों का अनोखापन है तथा उनकी एकरूप वर्णमाला-विहीन चित्रलिपि है जिसमें ये सब लिखी जाती हैं। चीन की समस्त भाषाएँ (१) एक अक्षरी है, अर्थात् प्रत्येक शब्द के लिए एक अक्षर होता है और पीकिंग की स्थानीय भाषा के शब्दों या अक्षरों की संख्या केवल ४२५ है; (२) वे शब्दों के अलग व्याकरणीय रूपों में वहन करने में अत्यन्त अक्षम हैं। इससे बहुत से व्याकरणीय तत्त्वों का, जो अन्यत्र व्याकरणीय भेदों को उत्पन्न करते हैं, उदात्त और अनुदात्त आदि द्वारा प्रतिस्थापन हुआ और जो शताब्दियों के प्रवाह के साथ निरन्तर बढ़ते गये—केन्टनी उपभाषा में इनकी संख्या आठ हो गई है। इससे व्याकरण की जटिलता में कमी आ गई जो अन्यत्र भाषा सम्बन्धी भिन्नता का सृजन करती है। संज्ञा के लिए व्यवहृत चित्रलिपि, सन्दर्भ के अनुसार क्रिया, विशेषण अथवा क्रियाविशेषण की व्याख्या करने में भी पूर्णतः समर्थ होती है। व्याकरण की ऐसी युक्तियाँ जैसे क्रियाओं का पुरुष और वचन के अनुसार अनुबद्ध होना, इस भाषा में नहीं है। चीनीलिपि की विशेष प्रकृति, जो वर्णमालाबद्ध न होकर चित्रलिपिक है, पिछले तीन सहस्र

१. जे० नीडम : साइंस एण्ड सिविलिजेशन इन चायना—भाग १।

इसी सम्बन्ध में प्रो० गाइल्स लिखते हैं : ‘यहाँ (चीन में) आठ पूरी तरह विकसित उपभाषाएँ हैं जो एक ही जाति की होने पर भी इतनी भिन्न हैं कि वे आठ विभिन्न भाषाओं का रूप धारण कर चुकी हैं और उनमें किसी दो में इतना ही भेद है जितना कि अंग्रेजी और (हाँसेण्ड की) उच्च भाषा में।’

(चाइना एण्ड दि चाइनीज़)

२. वाल्टर सी० हिल्लर : दी चाइनीज़ लैंग्वेज एण्ड हाऊ टू लर्न इट।

वर्षों में इस प्रकार विकसित हुई है कि उसने लिखित भाषाओं की भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं का निराकरण कर दिया है। जब कोई पदार्थ जैसा बोला जाता है वैसा न लिखा जाकर जैसा देखा जाता है वैसा लिखा जाए, तब इन्हें अपने ढंग से बोलते हुए भी समरूप से लिखा जाना सम्भव है। यदि 'उषा' का निर्देशन क्षितिज के ऊपर सूर्य से, 'जंगल' का समीपवर्ती दो वृक्षों से, 'जिह्वा' का मुख से किसी वस्तु के बाहर निकलने से, 'शब्द' का वाष्प के मुख से निकलने से, 'बोली' का शब्द और जिह्वा से, 'दीप्ति' का सूर्य और चन्द्र के सहमिलन से, 'सुखद' का स्त्री और शिशु से, 'पौरुष' का क्षेत्र और शक्ति से, 'घर' का छत के नीचे वराह से, 'शान्ति' का छत के नीचे कई पुरुषों या स्त्री से, 'मित्रता' का दो हाथों से, 'गोत्रनाम' का स्त्री और जन्म से, 'संसद' का वादविवाद, शासन और सम्मेलन से, किया जाना है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उच्चारण में समस्त परिवर्तन और व्याकरण के बचे-खुचे तत्त्व चीनी भाषा में महत्वहीन हो जाते हैं। इस दृष्टि से चीनी भाषा के उद्भव की तुलना हिन्दी के साथ नहीं की जा सकती।

मण्डारिनों और ब्राह्मणों के स्वभाव और कार्य भिन्न थे। यह विचार करने में कठिनता नहीं होगी कि यदि ब्राह्मण जनता को संस्कृत सुनने से भी रोकने की बजाय उन्हें स्वयं संस्कृत पढ़ाते, यदि उसे तीन सहस्राब्दियों तक अटलता से स्थिर रखने की अपेक्षा उसमें वे समयानुसार परिवर्तन करते रहते जिससे वह बोलचाल की भाषा के निकट रहती, और यदि वे अपने-आपको बिलकुल रुद्ध और निषेधात्मक वर्ग में बाँध रखने की अपेक्षा समस्त जातियों और क्षेत्रों के योग्यतम व्यक्तियों को अपने वर्ग में लेते तो भारत का भाषा सम्बन्धी भूगोल बिलकुल अलग ही होता।

बगैर सांस्कृतिक विशेषताओं को जाने भाषाओं में सादृश्य ढूँढ़ना भ्रमपूर्ण है क्योंकि भाषा हमारे बौद्धिक जीवन की अपेक्षा, जो सामान्यतः ऊपरी ढाँचे का रूप धारण करता है, कहीं अधिक इन विशेषताओं द्वारा प्रभावित होती है। भाषा एक आधार से दूसरे आधार पर प्रसारित होती रहती है और एक आधार के दूसरे से प्रतिस्थापित हो जाने पर परिवर्तित नहीं होती, जैसा कि ऊपरी ढाँचे में होता है। इसलिए जनता की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विशेषतायें, जो उनकी भौतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण जन्म लेती हैं, धर्म, रीतियों, सामाजिक स्वभाव इत्यादि की अपेक्षा भाषा पर अधिक गहरा प्रभाव डालती हैं।

भारतीय भाषाविदों को अपने अध्ययन में भाषाविज्ञान के सर्वमान्य

नियमों का प्रयोग करना चाहिए जैसे (१) आधुनिक भाषाओं का निर्गमन बड़ी भाषा के छोटी भाषाओं में विपाटन द्वारा न होकर छोटी भाषाओं के बड़ी भाषा में संश्लेषण द्वारा हुआ है, (२) हिन्दी-क्षेत्र के समान विशाल पैमाने पर राष्ट्रभाषा का अस्तित्व में आना उतने ही विशाल पैमाने पर एकीकरण की शक्तियों के कार्य करने से ही हो सकता था, (३) भाषाएँ दमन अथवा बलपूर्वक आत्मसात् करने का विरोध करती हैं, (४) बोलचाल की भाषाओं का उन्मज्जन न तत्कालिक होता है न उनमें गिल्कुल नवीन व्याकरण-पद्धति या शब्दों का समूह ही उपज सकता है। ये भाषाएँ कई शताब्दियों की संकरण की मन्द प्रक्रिया का परिणाम हैं जिसमें एक की आधार शब्दावली और व्याकरण की पद्धति विजयी होती है और उसके स्कन्ध के चारों ओर पराजित भाषाओं के सर्वोच्च तत्त्व एकत्रित और एकीकृत होते हैं। उपर्युक्त वैज्ञानिक नियमों के प्रकाश में जब आधुनिक हिन्दी के उद्भव का अध्ययन किया जायगा, तभी संसार के अन्य भागों की भाषाओं से उसकी तुलना लाभदायक हो सकेगी।

प्रादेशिक भाषाएँ और हिन्दी

भाषा में महान् स्थायित्व होता है। उसमें प्रतिरोध की इतनी महान् शक्ति होती है कि किसी दूसरी भाषा को उसके ऊपर लादना अथवा बलपूर्वक उसे आत्मसात् करना असम्भव है। इसका कारण यह है कि भाषा स्वयं जीवन ही का स्वाभाविक फल है; चूँकि जीवन उसे उत्पन्न करता है अतएव वही उसका पालनपोषण भी करता है। किसी भी भाषा को उसे बोलने वाली जनता से अलग हटाकर स्वतन्त्र और इन्द्रियातीत समझना भूल है। उसकी जड़ें जन-जन की चेतना में गहराई तक पहुँची रहती हैं। सत्य तो यह है कि भाषा कार्यरत जीवन और सक्रिय जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

यह सर्वत्र स्वीकार किया जाता है कि उत्तरी भारतीय जनता अपनी-अपनी बोलियाँ और प्रादेशिक भाषाएँ ही बोलती है, आधुनिक हिन्दी नहीं। उसका जीवन सामन्तवाद द्वारा इतना सीमाबद्ध रहा है कि कम-से-कम उसमें से नब्बे प्रतिशत ने अपने समस्त जीवन में आधुनिक हिन्दी का एक भी वाक्य सुना न होगा, बोलना तो दूर की बात है। बोलचाल की भाषाओं का, उसके दैनिक परिश्रम से, उसके समस्त क्रियाकलाप से और उसके जीवन की समस्त अवस्थाओं से सीधा सम्बन्ध रहता है। इन भाषाओं द्वारा उसका सामूहिक जीवन निरन्तर समृद्ध और विकसित होता रहता है। जिन भाषाओं की जड़ें इतनी गहरी हों उनको स्थानच्युत अथवा समाप्त करना कितना कठिन है, इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

सेन्सस कमिश्नर बड़ौदा (१९३१) ने बताया है कि जहाँ किसी उपजाति के लोगों में आर्थिक स्वतन्त्रता अथवा भूमि से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता, केवल उनकी ही उपजातीय-भाषा 'हिन्दूकरण' द्वारा समाप्त होती है। जबकि गुजराती बोलने वाले प्रभुओं पर आश्रित बुबला श्रमिकों की भीली बोली को गुजराती शीघ्रता से हटाती जा रही है, चौद्रों की भाषा उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता और भूमि से सीधे उत्पादन-सम्बन्ध के कारण अछूती बच रही है।

इसी प्रकार बलूचिस्तान में दो लाख से कुछ अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली एक द्राविड़ी भाषा, ब्राहुई, दो सहस्र वर्षों से अधिक काल के आर्यीकरण से बच रही है।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी, बुन्देलखंडी, मागधी और मैथिली सरीखी भाषायें जो करोड़ों की मातृभाषायें हैं और जिनका भूमि से सीधा सम्बन्ध है, जीवित और फलती-फूलती रही हैं। ये भाषाएँ उत्तरी भारत में इस काल में रचित सर्वोच्च कविताओं की निरन्तर स्रोत रही हैं। पिछली दो दशाब्दियों में अवधी ही में बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, बंशीधर शुक्ल, द्वारकाप्रसाद मिश्र, रमई काका, दयाशंकर देहाती, तोरणदेवी शुक्ल, ब्रजनन्दन, शिवदुलारे त्रिपाठी, लक्ष्मणप्रसाद मिश्र, अनूपशर्मा, शारदा प्रसाद, लक्ष्मीशंकर निशंक, बदरीप्रसाद पाल, सुमित्राकुमारी सिन्हा इत्यादि कवि और कवयित्री हुए^१ हैं, किन्तु इनकी अवधी की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में नहीं सम्मिलित की जातीं जैसे पिछले काल के कवियों की जाती हैं। बलभद्र दीक्षित पढ़ीस की कविता की चर्चा करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने उन्हें प्रमुख कवि माना है और कहा है :

“दीक्षित जी को अवधी के शब्द-माधुर्य की वैसी ही परख थी, जैसी किसी महान कवि को हो सकती है। उनकी रचना ‘तुलसीदास’ का एक-एक शब्द मधुर है, सम्पूर्ण कविता मानो ‘रामचरितमानस’ में डूबकर निखर उठी है। प्रकृति-वर्णन में वह ताजगी है जो अवध की घनी अमराइयों में पपीहे और कोयल की बोली में होती है और जो पिंजरे में बन्द मंता की बोली में सुलभ नहीं होती। उनकी कविताओं में वही आनन्द है जो खेत-खलिहानों में घूमने वालों को खुली हवा लगने से प्राप्त होता है।^२ हिन्दी क्षेत्र की सबसे पिछड़ी हुई प्रादेशिक भाषा बुन्देली तक में निरन्तर साहित्य रचना होती रही है। आधुनिक बुन्देली कवियों में रामेश्वर प्रसाद गुरु, गोरीशंकर लहरी, गोपाल शर्मा, नाथूलाल सराफ को बुन्देलखण्ड में बहुत लोकप्रियता प्राप्त है।

इन भाषाओं में गद्य की भी महान कृतियाँ रची जा रही हैं। अभी हाल ही में ब्रजभाषा में इतिहास और संस्कृति पर अनेक रचनाएँ हुई हैं। राहुल सांकृत्यायन और नागार्जुन सरीखे ख्यातिप्राप्त लेखक अपनी मातृ-

१. दे० त्रिलोकीनारायण दीक्षित : अवधी और उसका साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। कुछ अन्य प्रादेशिक भाषाओं के इतिहास भी राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुए हैं जिनसे उनकी साहित्यिक समृद्धि का पता लगता है।
२. अवध और उसका साहित्य से उद्धृत।

भाषाओं में भी लिखते हैं। मैथिली में अब साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ छप रही हैं। इसकी छोटी कहानियाँ, विशेषकर मनमोहन झा की, हिन्दी के अनुवाद द्वारा सम्मान प्राप्त कर चुकी हैं।

श्री सत्येन्द्र ने ब्रजभाषा की ओर संकेत करते हुए कहा है : “कुछ लोगों की यह धारणा हो चली है कि ब्रजभाषा साहित्य अपने पूर्वगौरव से वंचित होकर हीन हो रहा है। ब्रजभाषा आज भी उतनी ही जीवित है जैसी सूरदास के समय में थी। आज भी वह भावाभिव्यक्ति में उतनी ही शक्तिशाली है। उसकी मधुरिमा को कौन पहुँच सका है।” हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ में सुविख्यात लेखकों द्वारा अपनी प्रादेशिक भाषा के बारे में ऐसे ही विचार प्रकट किये गए हैं^१।

इसी प्रकार भोजपुरी के सम्बन्ध में श्री गणेश प्रसाद सिंह लिखते हैं : “आज भोजपुरी भाषा भाषियों की संख्या लगभग पौने तीन करोड़ है। प्रदेश विस्तार तथा बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से भोजपुरी भारत की अत्यधिक मान्य आठ भाषाओं में, जिनमें तीन सरकार द्वारा शिक्षा का माध्यम स्वीकृत हो चुकी हैं, अपना स्थान सर्वप्रथम रखती है.....भोजपुरी का अपना साहित्य भी है। इसको संकलित करने की दशा में अनेकानेक विद्वान कार्य कर रहे हैं। हम देखते हैं कि इस क्षेत्र का अपना इतिहास है, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है, क्योंकि इस दृष्टि से सोचा नहीं जाता रहा है। इस क्षेत्र की अपनी संस्कृति और अपना रहन-सहन है। इसे इस दिशा में विकास करने का अवसर अब तक नहीं मिला है। देखें, वह सौभाग्य का दिन कब आता है, जब विभिन्न भाषाओं का अपना क्षेत्र स्वीकार कर लिया जाएगा, उसी प्रकार जिस प्रकार अवधी को अवध और ब्रजभाषा को ब्रज; और इन्हें अपने स्वतन्त्र विकास का अवसर मिल सकेगा ?”^२

गत वर्षों में इन भाषाओं के भाषा और साहित्य सम्बन्धी कई इतिहास निकले हैं जिनमें इनके पृथक् अस्तित्व को माना गया है और इन्हें हिन्दी की केवल बोलियाँ मानने का विरोध किया गया है। इस विषय की ओर संकेत करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने विचार प्रकट किया है कि “हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं में ब्रज, राजस्थानी, अवधी और मैथिली बहुत पहले से साहित्यिक भाषाएँ रही हैं और अन्य भाषाओं को भी हम बोलियाँ कहकर

१. हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ—पब्लिकेशन्स डिवाजन, मिनिस्टरी ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, ओल्ड सेक्रेटेरियट, नई दिल्ली।

२. गणेश प्रसाद सिंह : भोजपुरी और उसका क्षेत्र—नया पथ, लखनऊ, जनवरी १९५७।

केवल इस कारण से नहीं हटा सकते कि उनमें कोई लिखित साहित्य नहीं है। हम ऐसा इसलिए भी नहीं कर सकते कि वे सब प्रकार के भावों को प्रकट करने में समर्थ हों और इन दिनों तो उनमें साहित्य का भी निर्माण होने लगा है।”^१

वास्तव में इन प्रादेशिक भाषाओं का अलग-अलग भाषा के रूप में स्वीकार किया जाना कोई नई घटना नहीं है। ए० एफ० रूडोल्फ होरन्ल ने इस ओर ७५ वर्ष से भी अधिक पूर्व ध्यान आकर्षित किया था। पूर्वी हिन्दी और पच्छिमी हिन्दी, उत्तरी भारत की भाषाओं को दिए हुए इन नामों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने विचार व्यक्त किया था : “ये पद ठीक नहीं हैं, क्योंकि इनसे बहुत कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि पच्छिमी और पूर्वी हिन्दी, एक हिन्दी भाषा की दो विभिन्न बोलियाँ हैं। वास्तव में वे एक-दूसरे से उतनी ही पृथक् हैं जितनी पूर्व की बंगाली और पच्छिम की पंजाबी हिन्दी से हैं। ठीक तो यह है कि पूर्वी हिन्दी और पच्छिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्वी हिन्दी और बिहारी में अधिक सामीप्य है तथा दूसरी ओर पच्छिमी हिन्दी और पंजाबी में पच्छिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा अधिक सादृश्य है। संक्षेप में पच्छिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी को अलग बोलियों की अपेक्षा विभिन्न भाषाओं में वर्गीकृत होने का उतना ही अधिकार है जितना पंजाबी और बंगाली को।”^२

बीस वर्ष पश्चात् इसी ओर संकेत करते हुए ग्रियर्सन ने इसकी पुष्टि की और कहा : “बिहारी बोली का बंगाली से हिन्दी बोलियों की अपेक्षा बहुत निकट का सम्बन्ध और सादृश्य है, और इसी प्रकार हिन्दी, बिहारी की अपेक्षा, पंजाबी से निकट सम्बन्ध और समानता रखती है। अतएव तर्क-संगत यही है कि यदि पंजाबी और बंगाली हिन्दी वर्ग की बोलियों और बिहारी से स्वतन्त्र भाषाएँ मानी जा सकती हैं तो बिहारी और हिन्दी वर्ग की अन्य भाषाओं को भी एक-दूसरे से स्वतन्त्र भाषा मानना चाहिए।”^३ होरन्ल और ग्रियर्सन दोनों ने पूर्वी और पच्छिमी समूह की हिन्दी भाषाओं के व्याकरण सम्बन्धी भेदों, जैसे व्युत्पत्ति, विभक्ति, प्रत्यय, शब्द रचना, उच्चारण, इत्यादि, का विस्तृत वर्णन देकर अपना दृष्टिकोण प्रमाणित किया है।

बाद के परम्परावादी हिन्दी लेखक भी हिन्दी-क्षेत्र की विभिन्न

१. राहुल सांकृत्यायन: दि लैंग्वेज क्वेश्चन—इण्डियन लिटरेचर, बम्बई-नं० ३ १९५३।

२. ए० एफ० रूडोल्फ होरन्ल : ए ग्रामर आव दि ईस्टर्न हिन्दी।

३. जी० ए० ग्रियर्सन : सेविन ग्रामर्स आव दि बिहारी लैंग्वेज।

प्रादेशिक भाषाओं में परस्पर व्याकरण-सम्बन्धी भेदों पर जोर देते रहे हैं। यह स्वीकार किया जा चुका है कि हिन्दी, अवधी अथवा बिहारी की अपेक्षा पंजाबी के अधिक निकट है। डा० सु० कु० चटर्जी का विचार है कि पंजाबी मर्द लोग हैं और यह उन्हीं का प्रभाव है जिसने हिन्दुस्तानी को उत्तरी भारत की मरदानी भाषा बना दिया है।^१ श्री अयोध्यासिंह स्वीकार करते हैं कि भाषा विज्ञान के विचार से हिन्दी एक वस्तु है और साहित्य की दृष्टि से दूसरी वस्तु। उनके विचार में यद्यपि कई कारणों से (जिनका उल्लेख नहीं किया गया) बिहारी ठीक ही हिन्दी समझी जाती है तो भी वह बंगाली और उड़िया के समान मागधी (प्राकृत) से निकली है।^२ इसी सम्बन्ध में डा० श्याम सुन्दरदास कहते हैं कि अवधी और ब्रज केवल साहित्यिक बोलियाँ हैं। अगरचे ये हिन्दी के परिवार की नहीं हैं किन्तु फिर भी समझी उसी परिवार की जाती हैं, किन्तु गुजराती और राजस्थानी यद्यपि कोष और व्याकरण की दृष्टि से उसी परिवार की हैं, फिर भी ये हिन्दी की साहित्यिक बोलियाँ नहीं समझी जाती।^३ सबसे बड़ा और प्रामाणिक हिन्दी का कोष 'हिन्दी शब्दसागर' है, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हिन्दी के कुछ अत्यन्त प्रमुख विद्वानों द्वारा बनाया गया है। इसकी भूमिका में बिना अनिवार्य परिणाम निकाले हुए प्रादेशिक भाषाओं के सुस्पष्ट व्याकरण सम्बन्धी भेदों का वर्णन किया गया है। उस लम्बी भूमिका में दिये गए अवधी, ब्रज और खड़ी बोली के व्याकरण सम्बन्धी भेदों से यह विदित हो जाता है कि ये तीनों विभिन्न भाषाएँ हैं।

अब उन युक्तियों का परीक्षण बाकी रह जाता है जो इस तर्क के समर्थन में दी जाती हैं कि हिन्दी क्षेत्र की जनता का एक विशिष्ट हिन्दुस्तानी 'राष्ट्र' है और उसी एक मात्र बोलनेवाले की भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी है जोकि उस समस्त क्षेत्र की मातृभाषा है।

ये युक्तियाँ निम्न* हैं:—

(१) हिन्दी क्षेत्र के शहरों में मध्य श्रेणी के लोग, जिनमें परस्पर आर्थिक

१. सु० कु० चटर्जी : इन्डो-आर्यन एण्ड हिन्दी।
२. अयोध्यासिंह : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास।
३. श्यामसुन्दरदास : भाषा विज्ञान।
४. इनमें से अधिकांश युक्तियाँ डा० रामबिलास शर्मा की "आन दि लैंग्वेज क्वेश्चन इन इण्डिया" से ली गई हैं; वे० 'दि कम्प्यूनिस्ट' बम्बई—सितम्बर—अक्टूबर १९४६।

सम्बन्ध है, हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही बोलते हैं। ब्रज, अवधी और बुन्देलखंडी के क्षेत्रों में इस श्रेणी के युवक-युवतियों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते रहते हैं, किन्तु उनमें से कोई भी यह नहीं सोचता कि वह किसी विभिन्न भाषा-क्षेत्र में विवाह कर रहा है।

(२) घरों में ब्रज, अवधी आदि बोलने वाले सब लेखक खड़ी बोली के हिन्दी या उर्दू रूप में लिखते हैं।

(३) श्रमिकवर्ग के लोग विशेषकर औद्योगिक श्रमजीवी कभी भी विभिन्न क्षेत्रों के किसानों की बोली नहीं बोलते और वे अपनी सामान्य भाषा के रू में हिन्दी या हिन्दुस्तानी का व्यवहार ही करते हैं।

(४) प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी की नब्बे प्रतिशत शब्दावली सामान्य है।

(५) इन सब क्षेत्रों में समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, हस्तविज्ञप्तियाँ तथा विज्ञापन-पत्र हिन्दी में छपते हैं और कभी किसी को उन्हें अपनी भाषाओं में निकालने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सामान्य वातावरण में सभी एक भाषा का सहारा लेते हैं जो खड़ी बोली हिन्दी या हिन्दुस्तानी के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं होती।

(६) आधुनिक भारतीय भाषाएँ इस सहस्राब्दी के प्रारम्भ में उदित हुई, जब हमें इन प्रादेशिक भाषाओं का कोई चिह्न तक नहीं मिलता। इन प्रादेशिक भाषाओं की भी अपनी बोलियाँ हैं, और कोई कारण नहीं कि ये सब हिन्दी की बोलियाँ क्यों न मान ली जायें।

भारत में मध्यमश्रेणी का पंजाबी हिन्दू और पाकिस्तान में पंजाबी मुसलमान, पंजाबी भाषा और पंजाबीपन के स्वतंत्र अस्तित्व का तीव्र विरोध करता है। भारतीय पंजाब में हिन्दू समाचारपत्रों तथा मध्यमश्रेणी के हिन्दू नेताओं की प्रार्थना पर उस राज्य के हिन्दुओं ने पिछली जनगणना (१९५१) में अपनी मातृ-भाषा हिन्दी लिखाई थी, उन पंजाबी हिन्दुओं ने भी जो जनसंख्या-प्रणालियों के प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त साधारण हिन्दुस्तानी में भी न दे सकते थे। पाकिस्तानी पंजाब में उर्दू सरकारी रूप से प्रान्त की भाषा स्वीकार की जा चुकी है और पंजाबी भाषा के अस्तित्व का उल्लेख भी अभिद्रोह समझा जाता है।

पंजाबी लेखकों का अल्पांश ही आज पंजाबी भाषा में लिखता है^१ और

१. सु० कु० चटर्जी: "कुछ सिखों तथा अन्य लोगों को छोड़कर अधिकांश पंजाबी हिन्दुस्तानी (नागरी हिन्दी या उर्दू) का व्यवहार करते हैं"।

उनमें अधिकांशतः सिख हैं। बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर, हिन्दू और मुसलमान और बहुत से सिख साहित्यकार भी हिन्दी या उर्दू में लिखते हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व अविभाजित पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी और उर्दू परीक्षाओं में उस समय उत्तरीभारत के अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा, अधिक विद्यार्थी बैठते थे। पंजाबी हिन्दू की मातृभाषा का उल्लेख करते हुए प्रो० ओ० पी० कहोल लिखते हैं: “एक पंजाबी हिन्दू की मातृभाषा क्या समझी जानी चाहिए? वह पंजाबी बोलता है और पूछे जाने पर आग्रहपूर्वक इस पर झड़ा रहता है कि उसकी मातृभाषा हिन्दी है। वह किसी युक्ति से भी सत्य को नहीं देख पाता”।^१

हिन्दी प्रदेश में मध्यमश्रेणी के लोग यदि आज अपनी मातृभाषा की अपेक्षा हिन्दी की ओर अधिक झुके हुए हैं तो इसका कारण उनकी बोलचाल की भाषा हिन्दी होना नहीं, कुछ और है।

इस प्रकार यह कहना भी गलत है कि नगरों की श्रमिक जनता हिन्दी या हिन्दुस्तानी को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है। अवधी और ब्रज के क्षेत्रों के श्रमिक अपने घरों में अपनी-अपनी मातृभाषा बोलते हैं। कानपुर तथा अन्य नगरों में श्रमिक वर्ग थोड़ा-बहुत खड़ी बोली को ग्रहण करने के लिए आवश्यकतावश बाध्य होता है। प्रथम विश्व महायुद्ध के बाद पूर्वी और मध्य यूरोप के सब भागों से शरणार्थियों ने पेरिस में पहुँचकर बहुत थोड़े ही समय में काम-चलाऊ फ्रेंच का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब परिस्थितियों ने उन्हें पेरिस की सड़कों पर फेंक दिया, तब वे साथ-साथ रहने और एक-दूसरे को जानने के लिए बाध्य हुए। जो फ्रेंच भाषा उन्होंने सुनी और जिसे स्मरण रख सके उसमें उन्होंने अपनी तथा अपने शरणार्थी साथियों की भाषा के कुछ शब्द मिला दिये और इस प्रकार उनका जीवन व्यतीत होने लग गया। इस तरह उन्होंने बाजारू फ्रेंच की जानकारी प्राप्त कर ली।^२ कानपुर के बाजारों में यह अनुक्रम और भी सरलतर है, क्योंकि अवधी, ब्रजभाषा आदि हिन्दुस्तानी से पूर्वी यूरोपीय भाषाओं और फ्रेंच की अपेक्षा कम दूरी पर हैं। पाकिस्तान बनने से पूर्व कई ऐतिहासिक कारणों से पंजाबी श्रीनगर, पेशावर, बक्टा आदि नगरों में, बगैर इन प्रदेशों पर अपना अधिकार जताये, सामान्य संचार का साधन बन गई थी।

भारतवर्ष में विवाह भाषाई मान्यता की अपेक्षा धर्म और कुलगोत्र

१. प्रो० ओ० पी० कहोल : हिन्दूज़ एण्ड दि पंजाबी स्टेट—हिन्दी प्रचारिणी सभा, अम्बाला।

२. वे० जोलेण्डा फोल्डेस की ‘वि स्ट्रीट आव दि फिनिंग कंट’।

की परम्परा से अधिक प्रभावित होते हैं। इस विषय में बनारस का अग्रवाल अपनी भाषा बोलने वाले गैर-अग्रवाल की अपेक्षा मेरठ या इन्दौर के अग्रवाल के साथ सम्बन्ध को मान्यता देगा। पंजाबी ब्राह्मण या जैन पंजाब के अ-ब्राह्मण या अ-जैनियों की अपेक्षा पंजाब के बाहर के ब्राह्मणों और जैनियों से सम्बन्ध को मान्यता देते हैं। अतएव इससे यह नहीं प्रमाणित किया जा सकता कि पंजाबी भाषा अस्तित्वहीन है या समस्त उत्तरीभारत की जनता में एक सामान्य बोलचाल की भाषा वर्तमान है। इसी प्रकार समाचारपत्र, विज्ञापन-पत्र, हस्त-विज्ञप्तियाँ इत्यादि पेशावर से पटना तक और श्रीनगर से इन्दौर और हैदराबाद तक हिन्दी या उर्दू में छपी जाती हैं। समस्त कश्मीरी और निन्यानवे प्रतिशत पंजाबी, जो अँगरेजी के अतिरिक्त किसी भाषा में समाचारपत्र पढ़ते हैं, उर्दू ही में पढ़ते हैं, किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि उनकी मातृभाषा कश्मीरी या पंजाबी नहीं है। हैदराबाद राज्य के नगरों की मिश्रित भाषा, हिन्दी क्षेत्र के समान उपादानों के कारण, हिन्दुस्तानी है। इसी बहाने, निजाम अपने शासन-काल में उस राज्य में बोलचाल की भाषाओं के न्यायोचित अधिकार ही अस्वीकार करता रहा।

सबसे निर्णायक तर्क तो कृषकवर्ग की भाषा है, न कि श्रमिकवर्ग की, क्योंकि भाषा भूमि से अलग नहीं की जा सकती। भाषा ग्राम क्षेत्र में ही पलती-पनपती है और कृषकवर्ग ही उसका सृष्टिकर्ता है। इस सम्बन्ध में सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि “कुछ शिक्षित लोगों के अपवाद को छोड़कर समूचा कृषकवर्ग अवधी, ब्रज, इत्यादि के विभिन्न रूपों को बोलता है”।^१

जहाँ जन-साधारण से सम्पर्क की आवश्यकता होती है वहाँ हिन्दी का नहीं प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग होता है। पिछले चुनाव में बुंदेलखंड में बुंदेली का जो उपयोग हुआ इसका उल्लेख करते हुए श्री पूरनचन्द श्रीवास्तव लिखते हैं: “इसका प्रधान कारण यह है कि लोग खड़ी बोली की अपेक्षा अपने इलाके की बोली शीघ्र समझते हैं।”^२

इस युक्ति के विषय में, कि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं की निन्यानवे प्रतिशत शब्दावली सामान्य है, यह निवेदन किया जा सकता है कि यह पंजाबी और बंगाली के विषय में भी उतना ही ठीक है। हिन्दी का अनुवाद पंजाबी में, थोड़े परिवर्तन के साथ शत-प्रतिशत उन्हीं शब्दों को रखते हुए, किया जा सकता

१. डा० रामविलास शर्मा : ग्रान दि लैंग्वेज क्वेश्चन इन इण्डिया—दि कम्प्यूनिस्ट, बम्बई—सितम्बर-अक्टूबर १९४९।

२. नवयुग के बुंदेली लोकगीत—नया पथ लखनऊ, जनवरी १९५७।

है। 'सरल बंगला शिक्षक' के अन्त में 'हिन्दी-बंगाली-कोष' के जो ३०० शब्द दिये हुए हैं वे सभी समान हैं या एक ही धातु से निकले हैं।

इन प्रादेशिक भाषाओं में जो अलग शब्द हैं उन्हें भुलाना ठीक न होगा, जैसे 'गाँव' के लिए केवल संस्कृत से उद्भूत ग्राम को ले लेना, किन्तु उन शब्दों को छोड़ देना जो इसके लिए विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के अपने-अपने हैं। इस तरह हम जो चाहते हैं वह प्रमाणित तो कर लेंगे, किन्तु यह हमें सत्य के निकट नहीं ले जायगा। डब्लू० एच० फेलन ने १८७० में इस बात पर जोर देते हुए लिखा था :

“बोलचाल की भाषाओं में अत्यन्त स्वाभाविक और अभिव्यञ्जक मुहावरे हैं, जो लिखित भाषा में नहीं हैं... देशी विद्वान् परिमार्जित साहित्यिक भाषा के कारण, जो उन्हें जनता से अलग कर देती है, फूले नहीं समाते। किन्तु साधारणतया वे देहाती बोलियों के बहुत से प्रभावशाली और अभिव्यञ्जक पदों तथा मुहावरों से अनभिज्ञ रहते हैं और उनसे घृणा भी करते हैं। ये किसी प्रतिभाशाली मस्तिष्क की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो संमुख उपस्थित शब्दसमूहों में सूक्ष्म विषमता का प्रतिपादन करे... एक प्राचीन परिसमाप्त भाषा के जीवनहीन अवशेषों में बाढ़ की भाषाओं के अनपचे तत्त्वों का संकलन कर उद्गूँ और हिन्दी का अधिकांश भाग बनाया गया है जो जीवित बोली की गरमी और चमक से रहित है।”^२

इसी ओर संकेत करते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं :

“जनपदी भाषाओं में शब्दों की जो बहुरूपी प्रखर अर्थ-शक्ति है, उसकी ओर आपका ध्यान गया है। जिस मनचिन्ते ढंग से जनपदी शब्द मनोभावों को कह सकते हैं, वह बात संस्कृत की लठिया टेक कर चलने वाली हमारी इस बोझिल पद्धति में कहाँ आ सकती है? देहात की यात्रा भाषा-विज्ञानी के लिए तीर्थ-यात्रा की तरह फलदायिनी होती है। नये-नये शब्दों की बालें मानवी कण्ठ रूप धान-जड़हनों से बाहर निगर-निगर कर चारों ओर अपने भ्रम्पा-भूलन से मन बहलाती हुई दिखाई पड़ेंगी। कनक-जीर की तरह के उन दानों में जिनको भाषा का दूध जमा हुआ दिखाई पड़े वे एक-एक शब्द को पाकर धन्य हो जायेंगे और बटोर कर थैली में भरने लगेंगे। कभी-कभी एक घण्टे की जनपद-यात्रा या साहित्यिक तीर्थ-यात्रा से इतना फल मिला कि महीनों के

१. सरल बंगला शिक्षक : श्रीगोपाल चक्रवर्ती-स्वयंभूति पुस्तकालय, बनारस।

२. एस० डब्लू० फेलन : इंट्रोडक्शन टु न्यू हिन्दुस्तानी-इंग्लिश डिक्शनरी : लजारस एण्ड कं०, बनारस।

लिए मन आनन्द से भर गया ।

“एक-एक बात के लिए बोलियों में कैसे-कैसे ढाले हुए वाक्य और टकटक-टकटक करते हुए शब्द हमारे-आपके परिचय की बात जोह रहे हैं । बहुत काल के बाद नगर के निवासी गाँवों में जाकर जैसे वहाँ के जनपद जनो का कुशल संवाद पूछ रहे हैं और उनके आपसी मिलन में जो अमृत-रस बरस रहा है, जीवन में एक नया माधुर्य आ गया है, ठीक वैसा ही कुछ दिव्य आनन्द गाँव के चोखे और नये प्रत्ययों के बहुरूपी भेष धरने वाले शब्दों का अपने साहित्य में स्वागत करने से हमें प्राप्त होगा । हिन्दी के तद्धित और कृदन्त प्रत्ययों का जो नाती-परनातियों वाला बहुत भारी कुटुम्ब है, उसकी जन-संख्या के लिए हमें देहातों के ठेठ अभ्यन्तर में निस्संकोच पैठना होगा । जहाँ हमारी दृष्टि अब तक जाकर रुक जाती थी, उससे बहुत दूर अपनी-अपनी छोटी मड़ियों में चैन की बंसी बजाते हुए, प्रत्यय हमको मिलेंगे ।” “यदि हमने जनपदी कार्य को न अपनाया तो हमारी प्रगति के हाथ-पैर मारे जायेंगे, ऐसा मुझे दीखता है । मेरी समझ में यह आने वाले महान् युग का धर्म है । इतिहास के प्रचण्ड विकास की रूपरेखा हमें इस कार्य की ओर प्रेरित कर रही है ।”^१

विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के अलग अस्तित्व पर जोर देते हुए डा० अमरनाथ झा ने १९४३ में आगरा विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में कहा था : “हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं है । मैंने यह स्पष्ट रूप से अबोधर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में कहा था । चूँकि हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं है इसके यह अर्थ कदापि नहीं हुए कि मुझे हिन्दी से कुछ करना ही नहीं है ।” मधुकर के सम्पादक को एक पत्र में डा० झा ने लिखा था कि “मातृ-भाषा और राष्ट्रभाषा में सपत्नी भाव होना अहितकर है” “अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा और राजस्थानी का व्यवहार बन्द कर दिया जाय ऐसा आर्डीनेन्स जारी कर दिया जाना अन्याय है ।”^२

एक भाषा की शब्दावली से अधिक उसका व्याकरण महत्त्व रखता है । व्याकरण के नियम शब्दों और उनके रूपान्तरों वाक्यों में संयोजन कर भाषा को प्रवाह और विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं । यह साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि इन प्रादेशिक भाषाओं के व्याकरण अलग-अलग हैं । यहाँ तक कि एक ही धातु से उद्भूत शब्द विभिन्न भाषाओं में अपनी विशिष्टता रखते हैं, जैसा कि फैलन ने लिखा है : “एक ही धातु से निकले हुए बहुत से

१. मधुकर— जनपद आन्वोलन अंक, अप्रैल-अगस्त १९४४ ।

२. वही ।

हिन्दी शब्द और उनके साधारणतः अनेक गौण अर्थ जीवित धातु की जीवन-शक्ति का साक्ष्य देते हैं जो निरन्तर नवीन अंकुर निकालती रहती हैं।”^१

एक भाषा में बोलियों की विद्यमानता उसके अस्तित्व को समाप्त नहीं कर देती। जिन परिस्थितियों के कारण किसी प्रादेशिक भाषा की बोलियाँ पूर्णरूपेण मिश्रित और एकीकृत न होकर एक व्यापक प्रामाणिक भाषा न बन सकीं, उनकी विवेचना की जा चुकी है। समाज के औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप पूर्ण रूप से पुनः व्यवस्थित हुए बिना, बोलियों का पूर्ण मिश्रण साधारणतया नहीं होता। उत्तरीभारत में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था को पहले ही धक्का लगाया और अँगरेजों के आने पर सामन्तवाद का पुनः स्थिरीकरण हुआ। इसने उपजातियों, जातियों और क्षुद्रराष्ट्रों की बोलियों या उपभाषाओं का प्रामाणिक भाषा में पूर्ण विलयन कठिन बना दिया। आज की भारतीय भाषाओं में पंजाबी से बंगाली तक और कश्मीरी से मलयाली तक कदाचित् ही कोई ऐसी हो जिसमें बोलियाँ न हों। हिन्दी क्षेत्र की प्रादेशिक भाषाएँ भी किसी भिन्न स्थिति में नहीं हैं।

पंजाबी भाषा के उद्भव के अध्ययन से पता चलेगा कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के अंकुरण के लिए १६ वीं शताब्दी में ही परिस्थितियाँ तैयार हुईं, पहले नहीं, और तब भी इतने विशाल पैमाने पर नहीं कि समस्त हिन्दी क्षेत्र के लिए पर्याप्त हों। पंजाबी भाषा का उद्भव भी ११वीं और १२वीं शताब्दी में खोजा जाता है,^२ यद्यपि उस काल की भारत की भाषाओं की सूची में अमीर खुसरो ने ‘लाहोरी’, ‘मुल्तानी’ इत्यादि का उल्लेख किया है, किन्तु पंजाबी का नहीं। उस समय पाँच दरियाओं के देश को पंचनद कहा गया है, जिस नाम का महाभारत में भी उल्लेख है। मुसलमानों के आने के बाद लाहौर राजधानी हो गया। पूर्वी और पच्छिमी पंजाब के बीच में स्थित होने के कारण कई शताब्दियों के क्रम द्वारा उसने दोनों क्षेत्रों की बोलियों को मिलाकर एक प्रामाणिक भाषा होने में सहायता की।^३

शुरू के सिख गुरुओं ने किसी प्रामाणिक पंजाबी में न लिखकर, हिन्दवी, प्राचीन हिन्दवी, सहस्रक्रीती में या पंजाब की कई बोलियों में लिखा था। गुरु गोबिन्दसिंह ने ब्रजभाषा में भी रचना की थी। ‘जंगनामा’ के रचयिताओं अथवा सूफी कवियों ने पंजाब की बोलियों में या पड़ोस की बोलियों के मिलने-जुलने

१. एस० डब्लू० फेलन : न्यू हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी।

२. दे० प्यारासिंह पदम : पंजाबी बोली का इतिहास।

३. दे० सुरेन्द्रसिंह नरुला : पंजाबी साहित्य का इतिहास।

से बनी भाषा में रचना की थी। दिल्ली-आगरा से काबुल के समस्त व्यापार का मार्ग दक्षिण में मुलतान और उत्तर में सियालकोट के स्थान पर जब लाहौर से होकर हो गया तब यह नगर और भी महत्त्व प्राप्त कर गया। मुगलों के अधीन तो लाहौर उद्योग और व्यापार का महान केन्द्र बन गया। उसने घोड़ों के व्यापार में मुलतान तथा अन्य नगरों को पीछे छोड़ दिया। यहाँ के बने हुए शालों का दूर-दूर तक निर्यात होता था। बाद के मुगल काल में जब दक्षिण और पूर्व के प्रान्तों में परिस्थितियाँ अस्थिर हो गईं तब लाहौर मुगल साम्राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर हो गया। टामस मूर ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लासाख' में उस काल के लाहौर के वैभव का वर्णन किया है। इस वाणिज्यिक समृद्धि ने भिन्न-भिन्न पंजाबी बोलियों के ऊपर एक टकसाली पंजाबी भाषा के उभरने में सहायता दी। इसका वर्णन मोहसान फानी ने अपनी दबिस्तान-ए-मुजाहिब (१६४५ ई०) में 'जबान-ए-जाटान-ए-पंजाब' के रूप में किया है।

भाई गुरदास ने १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपनी 'वारां' इसी टकसाली भाषा के कई तत्त्वों को लेकर लिखी। इसके कुछ समय बाद वारिस का खण्डकाव्य 'हीर' आया जिसने इसी टकसाली पंजाबी पर आधारित होकर अन्य कई पंजाबी बोलियों का भी व्यवहार किया और इस प्रकार आधुनिक पंजाबी के विकास को तीव्र किया। एक परम्परागत प्रेमकथा पर आधारित होने के कारण यह सब वर्णों, वर्गों, सम्प्रदायों और भूभागों में अपनाया गया। बाद के सिखों के शासन ने सामन्तवादी ढाँचे को और अधिक हिला दिया और मध्यस्थित लाहौर ने अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त किया। ब्रिटिश शासन के अधीन लाहौर भारत के सर्वोच्च प्रशासनिक, शैक्षिक, धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्रों में स्थान प्राप्त कर गया। जैसे-जैसे पंजाब हाईकोर्ट और पंजाब विश्व-विद्यालय की गरिमा में वृद्धि हुई और जैसे-जैसे वह आर्यसमाज, सनातनधर्म, अन्जुमन-ए-हिमायत-ए-इस्लाम जैसे 'आन्दोलनों' का केन्द्र होता गया उसका महत्त्व भी बढ़ता गया। इससे प्रामाणिक पंजाबी का विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों में प्रसार हुआ जो कि पच्छिम से निरन्तर आक्रमणों और आवासन के कारण बिलकुल अलग नहीं रह सकी थीं। दो उपादानों के कारण औद्योगिक क्रांति की कमी पूरी हो गई; पहला तो यह कि ब्रिटिश-भारतीय सेना में विशाल पैमाने पर भरती किये जाने के कारण पंजाब के प्रत्येक भाग के ग्रामीण मिलने-जुलने लगे थे; और दूसरा यह कि मध्य तथा पच्छिमी पंजाब के नहरी उपनिवेशों में पूर्वी क्षेत्रों के निवासियों की बस्तियाँ विशाल पैमाने पर बन गई थीं। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी अभी कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जो अपनी बोली की

विशिष्टता बनाये हुए हैं। उनमें से एक जम्मू है जिसकी बोली डोगरी का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है और दूसरा मुलतान, जिसने भी अपनी अलग भाषा का दावा किया है। यदि पंजाब से पहले नहीं तो लगभग उसी समय^१ में हिन्दी प्रादेशिक क्षेत्रों में भी एक प्रामाणिक भाषा अंकुरित होने लगी थी, किन्तु पंजाब में जो बहुत से तत्त्व काम कर रहे थे उनका वहाँ अभाव था। किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि समस्त उत्तरी भारत की इन सब विभिन्न बोलियों को मिलाकर एक भाषा बनाने की समन्वयात्मक शक्तियाँ अत्यन्त क्षीण थीं।

हिन्दी क्षेत्र की कौन-कौन सी 'बोलियाँ' स्वतन्त्र भाषा मानी जाने के योग्य हैं, इस पर अभी तक एक मत नहीं है। ग्रियर्सन का विचार है कि बिहार की तीनों बोलचाल की उपभाषाएँ मागधी, मैथिली और भोजपुरी एक बिहारी भाषा की बोलियाँ हैं। ये तीनों घनिष्ठ सम्बन्ध वाली बोलचाल की भाषाएँ एक सामान्य प्रामाणिक भाषा बन सकती थीं, किन्तु ब्रिटिश शासन के कारण ऐसा न हो सका। इन तीनों में कम-से-कम भोजपुरी^२ स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थिति में है और मागधी और मैथिली परस्पर सन्निकट होने पर भी विभिन्न हैं। जैसा बहुधा दावा किया जाता है अवधी की एक बोली बघेली के स्वतन्त्र भाषा स्वीकार किए जाने की कोई संभावना नहीं है। डॉ० बाबूराम सक्सेना का विचार है कि "भाषा की दृष्टि से बघेली अवधी से भिन्न नहीं है। लिग्विस्टिक सर्वे में ग्राम पक्षपात को ध्यान में रखते हुए उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया है। सर्व में उल्लिखित भेद की दो विशिष्टताएँ अवधी की अन्य बोलियों में भी हैं।"^३ इसी प्रकार कभी मालवी राजस्थानी की बोली कही जाती है और कभी स्वतन्त्र भाषा। इस सम्बन्ध में श्री श्याम परमार कहते हैं : "वास्तव में मालवी एक पूर्ण विकसित सम्पूर्ण, शक्तिशाली और विस्तीर्ण भाषा है। जो इसे राजस्थानी का एक भेद मानते हैं वे भूल करते हैं"^४ इसमें कोई सन्देह नहीं, कि यदि ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत राजस्थान सामन्ती हितों का

१. इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरी भारत में अन्य भाषाओं की अपेक्षा बंगाली और बिहारी पहले उठीं। इसका कारण यह था कि ये क्षेत्र मुस्लिम आक्रमणकारियों के बारम्बार विनाश से बचे रहे। पंजाबी, खड़ी बोली, ब्रज और अवधी के क्षेत्रों से तुलना करते हुए बारहवीं शताब्दी के एक मुसलमान इतिहासज्ञ ने बंगाल को 'अच्छे पदार्थों से भरपूर नरक' कहा है।

२. दे० उदयनारायण तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य।

३. बा० रा० सक्सेना : 'इवोल्यूशन ऑफ अवधी'।

श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

मुख्य गढ़ न बना होता तो मालवी सहित राजस्थानी की विभिन्न बोलियाँ एक भाषा में मिल गई होतीं ।

जहाँ तक सम्भव हो इन बोलियों के अपनी प्रादेशिक भाषाओं में मिलने के उस अपूर्ण कार्य को पूर्ण होने में प्रोत्साहन देना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य के आगमन के कारण रुकावट आ गई थी । जनता को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम स्वयं चुने । इसकी आशा नहीं कि इन भाषाओं की संख्या हिन्दी क्षेत्र की उन प्रादेशिक भाषाओं से बढ़ जाय जिन्हें इस समय मान्यता प्राप्त है । इसमें जनता की वास्तविक अभिरुचि के साथ-साथ, भाषा या बोली के विकास की यथार्थ स्थिति का भी ध्यान रखना होगा ।

इन प्रादेशिक भाषाओं के विकास और इनके साहित्यिक भाषाओं में पूर्ण रूप से पुष्पित होने से हिन्दी को जीते-जागते मुहावरों और पदों का अक्षय स्रोत मिल जायगा । ये प्रादेशिक भाषाएँ—अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, बुन्देलखंडी, भोजपुरी, मागधी और मैथिली—कई विषयों में संसार की भाषाओं में सर्वाधिक विकसित हैं । यहाँ की जनता ने संसार की प्राचीनतम संस्कृति की परम्परा पाई है, और उसकी भाषाओं ने अनूठी परिपक्वता और समृद्धि प्राप्त की है । इन अक्षय जलस्रोतों से सिंचन प्राप्त कर हिन्दी कितनी समृद्ध-शस्य हो जायगी इसकी कल्पना की जा सकती है ।

महात्मा गाँधी ने पण्डित नेहरू को सलाह दी थी कि जब कभी उन्हें किसी बात पर दुबिधा हो तब वे नीचे दी हुई सलाह पर चलें :

“मैं तुम्हें एक तिलिस्म देता हूँ । जब कभी तुम्हें शंका हो या ठीक तरह से कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तब निम्नलिखित प्रयोग करो । उस सबसे गरीब और कमजोर आदमी का चेहरा, जो तुमने कभी देखा हो, याद करो और अपने से पूछो कि जो कदम तुम उठाने के लिए सोच रहे हो उससे उसका कुछ काम निकलेगा ? क्या इससे उसका कुछ भला होगा ? क्या इससे वह अपने जीवन और भाग्य पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा । दूसरे शब्दों में क्या करोड़ों भूखों और आध्यात्मिक क्षुधितों को यह स्वराज्य की ओर अग्रसर करेगा ?”

उन निर्धन किसानों का विचार करने पर, जिनके परिश्रम और सफलताओं के साथ ये प्रादेशिक भाषाएँ घनिष्ठतापूर्वक बँधी हुई हैं, उचित निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई न होगी । हिन्दी के साथ-साथ इन भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार करने से जनता की गहनतम आकांक्षाओं की पूर्ति होगी और इससे

ऐसी सृजनशक्ति प्रवाहित होगी जो इस प्राचीन देश के दीर्घ इतिहास में पहले कभी देखने में नहीं आई।

हिन्दी, प्रादेशिक भाषाओं और जनपदीय भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध के बारे में जो तीव्र मतभेद विद्यमान हैं, वे भाषागत विशेषताओं और भिन्नताओं सम्बन्धी वादविवाद तक सीमित नहीं रहते, बल्कि इस सिद्धान्त को लेकर प्रायः राष्ट्रीयता के प्रश्न भी उठाये जाते हैं। प्रत्येक एकभाषाभाषी प्रदेश एक राष्ट्र भी होता है, इस धारणा को लेकर हिन्दी को समस्त हिन्दी क्षेत्र की एकमात्र मातृभाषा मानने वाले, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिन्दीभाषी पंजाब आदि को एक 'राष्ट्रीय राज्य' में संयुक्त करना चाहते हैं; दूसरी ओर जनपदीय भाषाओं के अनुयायी कई बार प्रादेशिक भाषाओं के अस्तित्व तक को अस्वीकार करते हुए प्राचीन जनपदीय भाषाओं को पुनर्जीवित करने के लिए उतावले हो उठते हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो उत्तर और मध्य भारतीय प्रदेशों में बीसियों ऐसे जनपदीय 'गणराज्यों' की राजधानी और 'राष्ट्रभाषा' सहित सूची तैयार कर ली थी।^१ किन्तु भारत की विशेष परिस्थितियों से आँखें मूँदकर, 'एक भाषा—एक राष्ट्र' के पश्चिमी-यूरोपीय सिद्धान्त को यहाँ लागू नहीं किया जा सकता।

इतिहास के आधुनिक पूँजीवादी युग में राष्ट्रीयता दो विभिन्न रूपों में उत्पन्न हुई है। इसका पहला रूप इंग्लैण्ड और फ्रान्स सरीखे देशों में प्रकट हुआ, जिन्होंने राष्ट्रीयता को स्वयं अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के प्रोत्साहन से प्राप्त किया क्योंकि इन देशों में समाज के पूँजीवादी पुनर्गठन से सामन्ती सम्बन्ध बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गये थे। राष्ट्रीयता का दूसरा रूप उन देशों में व्यक्त हुआ, जहाँ किसी अन्य राज्य के राष्ट्रीय दमन के कारण वे राष्ट्रीय चेतना अनुभव करने के लिये बाध्य हुए। इतिहास के प्रारम्भ से ही जातियाँ विदेशी शासन में रही हैं, किन्तु उनमें राष्ट्रीयता का उदय आधुनिक पूँजीवादी युग ही में होता है। वाल्टर क्रामर ने आयरलैंड के सम्बन्ध में इसका यथार्थ वर्णन करते हुए कहा है : "हेनरी द्वितीय के काल से इंग्लैंड ने उस (आयरलैंड) के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को मिटाना चाहा था। आयरलैंड की बोली, साहित्य और वेशभूषा तक को दबाने के प्रयास बार-बार किये गए और बाद में आयरलैंड पर अंगरेजी आधिपत्य का ठोस आधार रखने की आशा में आयरिश धर्म का भी दमन किया गया। तिस पर भी अंगरेजों के आधिपत्य के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में अठारहवीं

शताब्दी के अन्त से पूर्व कुछ उल्लेख नहीं मिलता.....एलिजाबेथ के काल में आयरिश आदिम-जातीय समाज का बिल्कुल विनाश होने तक आयरिश विरोध का नेतृत्व आदिम-जातियों के सरदारों और उनके संघों ने किया था। उन्होंने अपने किसानों सहित, प्रथमतः और चेतनापूर्वक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए युद्ध नहीं किया था।” बाद में आयरलैंड की जनता के पराधीनता के विरुद्ध सामान्य संघर्ष से उनमें एक राष्ट्रीयता की भावना सजग हुई, यद्यपि उस समय वे दो भाषाएँ—अंग्रेजी और इरसे—बोलते थे।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ऐसी ही परिस्थितियों में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध, जिसने समस्त भारतीय उपमहाद्वीप को दास बना लिया था, मुक्ति-संघर्ष के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ था। इस उपमहाद्वीप की समस्त जनता के सामान्य संघर्ष ने उसमें एकता की भावना पैदा की। एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध जनता के संघर्ष से ‘राष्ट्रीयता’ की ऐसी भावना आई जो पश्चिमी यूरोप के देशों से भिन्न थी। इसका उल्लेख इसलिए नहीं किया गया कि भारत का ‘बहुराष्ट्रीय राज्य’ होने की धारणा का खण्डन किया जाय, बल्कि इस पर बल देने के लिए, कि भारत में विभिन्न ‘राष्ट्रों’ के विकास की चर्चा भारतीय एकता की परिधि के भीतर ही होनी उचित है। जब कवि इकबाल ने ‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा’ गाया था तब उनकी सामान्य धारणा समस्त भारत देश को आच्छादित करते हुए ‘हिन्दुस्तान’ की थी जो अंग्रेजों के शासन-काल में अस्तित्व में आई। इससे पूर्व हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तानी शब्द एक बहुत सीमित अर्थों में प्रयुक्त होता था और आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता उससे लक्षित नहीं थी।

इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है कि ब्रिटिश शासकों के आगमन से पूर्व उत्तरी भारत की जनता ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भावात्मक रूप से उन समुदायों में विभाजित हो रही थी जो कोई-न-कोई एक भाषा ब्रज, अवधी, पंजाबी, मराठी, गुजराती इत्यादि बोलते थे। दूसरी चेतना जो, विन्ध्य के उत्तर में रहने वाली जनता में विद्यमान थी, आर्यावर्त की थी। उत्तरी भारत में ब्रज, अवधी और अन्य प्रामाणिक या ‘राष्ट्र’ भाषाओं के अंकुरण के पूर्व ही आर्यावर्तीयता की भावना आदिम-जातीय और गणगोत्रीय चेतना के ऊपर फैली हुई थी। ‘आर्यावर्त’ की यह चेतना, जो यूरोप में ऐसी ही महाद्वीपीय भावना से कहीं अधिक शक्तिशाली थी, सामान्य इतिहास से, समान धार्मिक विश्वासों से, सांस्कृतिक साम्य से या प्राचीन नृपों और सम्राटों की चक्रवर्ती होने की धारणा से ही उत्पन्न नहीं हुई थी। वह विशाल पैमाने पर जनता के

अन्तर-मिश्रण का परिणाम थी जो सिन्धु और गंगा की घाटियों के बीच ही नहीं, बल्कि हिन्दी प्रदेश के बाहर 'आर्यावर्त' के कई क्षेत्रों और गंगा की घाटी में भी होता रहा। के० एम० पणिकर ने इंगित किया है कि गंगा की घाटी का भाग निरन्तर विच्छिन्न होता रहा और उसका विस्तार सामान्य-तया मालवा और गुजरात में हुआ और बहुत थोड़े अंशों में बुन्देलखण्ड आदि क्षेत्रों में भी, जो इस प्रकार भारतीय विकास की मुख्य धारा के बाहर रहे।^१ इसने आर्यावर्त की धारणा को हिन्दुस्तानी या हिन्दी प्रदेश की किसी धारणा की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक वास्तविकता प्रदान की है।

इसका परिणाम यह हुआ कि एक मानवीय इकाई होने की भावना जो एक भाषा द्वारा ग्रथित जन समुदाय में होती है वह हिन्दी क्षेत्र के लोगों में पैदा नहीं हो सकी, इसके विपरीत ऐसी भावना का अवध, ब्रज, राजपूताना आदि क्षेत्रों में अवश्य ही विकास हुआ। पहले आर्यावर्त की भावना आदिम-जातियों और गणों की भावना से ऊपर तैरती रहती थी। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' (६१० ई०) में इसी भावना से विंध्य के उत्तर के देश का वर्णन किया है। ब्रज, अवध, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि की धारणा बाद में आई जो पूर्वकाल के सामन्ती और आदिम-जातीय सम्बन्धों के ऊपर आच्छादित हो गई। यदि भारत में भी इंग्लैण्ड, फ्रांस इत्यादि की ही तरह राष्ट्रीयता का विकास होता तो ये एक भाषी प्रदेश सर्वांगपूर्ण राष्ट्र बन जाते, किन्तु भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना विदेशी शासन के विरुद्ध जनता के भड़कने से पैदा हुई। इस प्रकार समस्त भारत की जनता एक साथ राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक तथ्य और मूल महत्त्व से रंजित हो गई। यद्यपि इससे भारत के कई स्थानों में भाषागत राष्ट्रों के पूर्ण विकसित होने में बाधा आई, किन्तु इसने उनमें एक होने की और सार्वदेशिक तथा बहुभाषी "राष्ट्रीयता" की भावना प्रदान की, जिसने उनके संघर्ष को एकीकृत किया और स्वतन्त्रता के सामान्य ध्येय की प्राप्ति सरल कर दी।

हमारे इतिहास के उपर्युक्त तथ्यों की उपेक्षा कर भारतीय भाषाशास्त्री भारत के राष्ट्र और भाषा सम्बन्धी प्रश्न पर भलीभाँति विचार नहीं कर सकते। इन समस्याओं की चर्चा भारतीय एकता के चौखटे के भीतर ही करनी होगी, अन्यथा अन्धी देश-हितैषिता और प्रतिगामी राष्ट्रीयता को इन उत्कट भावनाओं का लाभ उठाने का अवसर मिल जायगा। भारतीय एकता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का विचार नवीन और विस्तृत अर्थ ग्रहण कर रहा है। राष्ट्रीयता की

१. के० एम० पणिकर : जिओग्राफिकल फैक्टर्स इन इण्डियन हिस्ट्री।

भावना राष्ट्रीय स्वाधीनता से आर्थिक प्रजातन्त्र और समाजवाद में परिवर्तित हो रही है। भारतीय राष्ट्र के प्रति भक्ति का अर्थ अधिकाधिक किसानों और दरिद्र वर्गों के प्रति भक्ति से होगा। इससे उनकी बोलचाल की भाषाएँ भी अपनी सुषुप्तावस्था से जाग उठेंगी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किया हुआ सामान्य संघर्ष उन्हें अब अच्छा जीवन व्यतीत करने के सामान्य संघर्ष के लिए और भी परस्पर संश्लिष्ट करेगा। भारतीय जनता की नवीन भविष्य की ओर प्रगति में हिन्दी क्षेत्र के लिए अलग राष्ट्र की भावना वैसी ही अस्तित्वहीन रहेगी जैसे पहले थी।

जब भाषाएँ अपने को पूर्णतः विकसित कर लेंगी तभी, यदि समस्त भारत के लिए नहीं तो उत्तरी भारत के लिए, हिन्दी की सामान्य परम्परा के रूप में छिपी शक्तियाँ पहचानी जा सकेंगी। यह परम्परा कितनी महान् है यह तभी समझ में आ सकता है जब हम वर्तमान के साथ-साथ भविष्य का भी विचार करें। जैसे जैसे दूरी कम होती जायगी और मानवजाति समाजवाद के मानव-ध्येय की ओर तथा उसके परिणामतः भौतिक और आध्यात्मिक प्रचुरता की ओर अग्रसर होगी वैसे-वैसे विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों और उपमहाद्वीपों में भाषाएँ भी सन्निकट होकर एक हो जायँगी। यूरोप में एक स्कन्ध से विकसित होकर सामान्य भाषा के बढ़ने और फलने-फूलने में कई शताब्दियाँ लग सकती हैं। किन्तु उत्तरी भारत की जनता को एक गौण भाषा हिन्दी मिली है जो उनके लिए मातृभाषा से थोड़ी ही कम है और जो भविष्य में उन सबकी सामान्य बोलचाल की भाषा का आधार बनेगी। हिन्दी और इन भाषाओं की मैत्रीपूर्ण सहकारिता और परस्पर आदान-प्रदान से ही यह कार्य ठीक मार्ग से विचलित हुए बिना शीघ्रतापूर्वक संपन्न हो सकता है।

संस्कृति का इतिहास हमें यह बताता है कि स्वतन्त्रता के अरुणोदय के साथ-साथ भाषा भी विशेष तीव्रता से अपने को समृद्ध बनाना प्रारम्भ कर देती है। कई शताब्दियों के बाद भारत की किसान जनता नये जीवन में नेत्र खोल रही है। यह जिन महान् सृजन-शक्तियों को प्रवाहित करेगी वे उसकी बोलचाल की भाषा में ही भली प्रकार व्याप्त हो सकती हैं।

हिन्दी का भविष्य और भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की समस्या

हिन्दी भाषा के भविष्य के कई पहलू हैं और यद्यपि वे परस्पर संग्रथित हैं फिर भी यह आवश्यक है कि उनके द्वारा उपस्थित समस्याओं की अलग-अलग परीक्षा की जाय ताकि उनका उस आंति से उद्धार किया जा सके जिसमें वे दिन-ब-दिन गहरी डूबती जा रही हैं।

सबसे पहला प्रश्न समस्त भारत के लिए हिन्दी के 'राष्ट्र' या 'राज्य' भाषा होने का और हिन्दी क्षेत्र के बाहर की भाषाओं के साथ उसके सम्बन्ध का है। भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में दी गई भाषाओं की संख्या १४ है। इनमें संस्कृत मृतभाषा है और हिन्दी तथा उर्दू एक ही क्षेत्र की मानी जाती हैं। इस प्रकार संविधान में भारतीय संघ की सरकारी भाषा हिन्दी के अतिरिक्त विभिन्न अ-हिन्दी प्रदेशों के लिए ग्यारह भाषाएँ स्वीकार की गई हैं।

दूसरा प्रश्न हिन्दी-क्षेत्र की ग्राम बोलचाल की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और आधुनिक हिन्दी के परस्पर सम्बन्ध का है। यह पहले बताया जा चुका है कि खड़ी-बोली-हिन्दी हिन्दी-क्षेत्र के समस्त लोगों की मातृभाषा नहीं है। इन प्रादेशिक भाषाओं को जनता की स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में स्वीकार करने से इनके और हिन्दी के बीच में सीमा स्थिर करने का प्रश्न सामने आ जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अ-हिन्दी-क्षेत्र के लोगों की अपेक्षा ये लोग हिन्दी के अधिक निकट हैं, किन्तु यह भी निर्विवाद है कि इन लोगों की बहुतेरी सांस्कृतिक और सामाजिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी सम्पूर्ण पूर्ति केवल हिन्दी द्वारा नहीं हो सकती। एक बोलचाल की भाषा प्रकृति के साथ मानव के संघर्ष का फल तो है ही, वह उस संघर्ष का साधन भी है, और बिना उसके मानव भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। निरन्तर पारस्परिक आदान-प्रदान करने के लिए तथा अपनी सामाजिक

समानता को अभिव्यक्त और समृद्ध करने और उसे आगे बढ़ाने के लिए बोल-चाल की भाषा की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। इन भाषाओं के बिना भावों का समृद्धिशाली साम्राज्य और उत्पादी श्रमसाधनों द्वारा उनका सृष्टिमूलक कार्य समाप्त हो जायगा। इसलिए किसी प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र के लोगों के लिए अपनी मातृभाषा समस्त हिन्दी-क्षेत्र की उस सामान्य भाषा से अधिक महत्त्व रखती है जिसके द्वारा वे अन्य प्रादेशिक भाषा भाषियों से बातचीत कर सकते हैं। निस्संदेह हिन्दी-क्षेत्र के बहुत से लोगों ने खड़ी-बोली हिन्दी के साथ न्यूनाधिक परिचय प्राप्त कर लिया है और इसका संरक्षण और विस्तार अवश्य होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि ये प्रादेशिक भाषाएँ और खड़ी बोली हिन्दी कैसे साथ-साथ और सामंजस्यपूर्वक आगे बढ़ें और कैसे वे परस्पर सहायक हों।

तीसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी को कैसे बोलचाल की भाषा, खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी, के निकट लाया जाय और इस शताब्दी के प्रारम्भ में जो प्रथा शुरू हुई, जिससे आधुनिक या उच्च-हिन्दी अधिकाधिक कृत्रिम होती गई, उसका कैसे प्रतिकार किया जाय। आज की उच्च-हिन्दी कहीं किसी की बोलचाल की भाषा नहीं रह गई है। एक कृत्रिम भाषा अन्ततः क्षीण होकर समाप्त हो जाती है। अतएव हिन्दी का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि उसके कृत्रिम तत्त्वों में कमी की जाय और बोलचाल के तत्त्वों की वृद्धि की जाय। सच तो यह है कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हमारा भविष्य और इस देश में प्रजातन्त्रवाद का विकास दोनों ही का इस समस्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनता से अधिकाधिक दूर होती हुई भाषा जनता के शत्रुओं के हाथ में शक्तिशाली अस्त्र हो जाती है। पहले ही आधुनिक हिन्दी की उत्तरोत्तर कृत्रिमता से हमारा सांस्कृतिक जीवन निरन्तर सूखता जा रहा है।

भारत के संविधान में हिन्दी को जो स्थान दिया गया है उस पर हमें पूर्णतया दृढ़ रहना आवश्यक है। अनुच्छेद ३४३ (१) के अन्तर्गत भारत के संविधान में हिन्दी को भारत संघ की 'सरकारी भाषा' माना गया है न कि भारत की राष्ट्रभाषा। 'राष्ट्रभाषा' और 'सरकारी भाषा' में भेद केवल तर्क की दृष्टि से ही नहीं है, यह भारत का संविधान बनाने वाली संविधान परिषद् के एक सदस्य श्री कृष्णस्वामी भारती द्वारा 'इण्डियन एक्सप्रेस' मद्रास को लिखे गये निम्न पत्र से स्पष्ट हो जायगा :

“मैंने १९ तारीख के आपके दैनिक में श्री जी० वी० मावलंकर का लेख, जिसका शीर्षक 'हिन्दी पिलग्रिमेज टु साऊथ' (दक्षिण में हिन्दी की तीर्थयात्रा) था, काफी हचि और ध्यान से पढ़ा। श्री मावलंकर महान् ज्ञानी और पूर्ण

विद्वान् माने जाते हैं। इसलिये मुझे यह स्वीकार करते हुए अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उन्होंने कुछ बातें ऐसी कहीं हैं जिनको सुधारना सत्य और ज्ञान के विचार से उचित है। श्री मावलंकर कहते हैं कि देवनागरी लिपि में हिन्दी को हमारे संविधान ने 'राष्ट्रभाषा' स्वीकार कर लिया है। मैं उन्हें नम्रता के साथ सूचित करना चाहता हूँ कि यह ठीक नहीं है। भारत का संविधान हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहीं पर भी नहीं कहता। अनुच्छेद में इतना भर कहा गया है कि 'संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी'।

“मुझे 'राष्ट्र' और 'सरकारी' शब्दों में, विशेषता को लेकर उनके आशय और भेद बताने की आवश्यकता नहीं है। एक ऐसे व्यक्ति की हैसियत से जिसने सक्रिय रूप से संविधान बनाने में सहायता दी है मैं कहना चाहता हूँ कि हम लोगों ने हिन्दी के लिये 'राष्ट्र' भाषा का प्रयोग जानकर नहीं किया, क्योंकि वह उस अनुच्छेद में उल्लिखित पद्धति के प्रसंग में ठीक नहीं बैठ रहा था और क्योंकि संविधान में न्यायानुसार विभिन्न राज्यों को अधिकार दिया गया है कि वे अपने लिए किसी भी प्रादेशिक भाषा को राज्य भाषा बना सकते हैं। जब भारत का चित्र ऐसा होगा कि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाएँ राज्य भाषाएँ बना लेंगे तब हिन्दी किसी कल्पना से भी राष्ट्रभाषा नहीं कही जा सकती।”^१

हिन्दी को भारत संघ की केवल सरकारी भाषा मान लेने से दक्षिण भारत में हिन्दी के बढ़ते विरोध के यदि सब नहीं तो एक मुख्य कारण दूर हो जायगा। हिन्दी क्षेत्र के लोग इस नित्य बढ़ते विरोध के बारे में अधिक नहीं जानते। और यह विरोध केवल दक्षिण तक ही सीमित नहीं है। इस विरोध के समझने में असफल रहने तथा उसके कारणों को दूर न कर सकने से देश की अपार हानि हो सकती है और इससे हमारी अंगरेजी भाषा के प्रति दासता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

अन्नामलाई और काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ० सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' के सम्मुख कहा था : “एक मद्रासी तमिल, तेलुगू, कन्नड़ तथा मलयाली द्वारा शिक्षण प्राप्त करता है। उसके लिए हिन्दी उतनी ही विदेशी है जितनी अंगरेजी, फ्रेंच या रूसी। मैं आपसे ठीक कह रहा हूँ कि आप एक मद्रासी को कभी भी हिन्दी नहीं सिखा सकते। इस विषय पर लिखने वाले अधिकांश लोग इस दृष्टिकोण

को नहीं समझते।”^१

डॉ० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदालियर, कुलपति मद्रास विश्वविद्यालय ने भी मद्रास लेजिस्लेटिव कौंसिल में वक्तव्य देते हुए कहा था : “दक्षिण में २००० हिन्दी पण्डितों के भेजने की भारत सरकार की परेशानी मेरी समझ में नहीं आती, जबकि उसने संविधान के इस निर्देश पर कि १९६० से पहले अनिवार्य सार्वदेशिक निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय कुछ भी नहीं किया। वह अंगरेजी को देश से इसलिए हटाना चाहती है कि वह बालक के लिए अस्वाभाविक है। क्या यह समझने के लिए कोई कारण हो सकता है कि तमिलनाडु, मालाबार और आंध्र के बालकों के लिए अंगरेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक स्वाभाविक है ?”^२ १९६० से संघ लोकसेवा परीक्षाओं में हिन्दी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में रखने के सुझाव मात्र पर ही हिन्दी-क्षेत्र के बाहर विरोध का एक तूफान उठ खड़ा हुआ है और ऐसा लगता है कि पन्द्रह वर्षों की नियत अवधि में अंगरेजी के स्थान पर हिन्दी को लाना सरल नहीं होगा। हमारे राष्ट्रीय जीवन पर इस सब का कैसा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ रहा है यह श्री हनुमन्थैया, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री मैसूर के निम्न वक्तव्य से, जो उन्होंने मद्रास में १८ सितम्बर १९५४ को दिया, स्पष्ट हो जायगा :

“आखिर हम ज्ञान और बोध चाहते हैं और अपने मस्तिष्क तथा दृष्टि-कोण को उदार बनाने के इच्छुक हैं। हमारा इससे क्या आता-जाता है कि ये लाभ हमें किस भाषा द्वारा मिलते हैं ? अन्य भाषाओं के प्रति अनादर प्रकट किये बिना, यह कहा जा सकता है कि अंगरेजी एक ऐसी भाषा है जो हमें ये समस्त लाभ प्रदान कर सकती है। अब जब हम अंगरेजी के माध्यम द्वारा काम करते हैं तब तेलुगू, कन्नड़ अथवा तमिल के रूप में नहीं सोचते। हमारी प्रवृत्ति प्रथमतः और अन्ततः भारतीय के रूप में सोचने की रहती है और उसके आगे एक पग और बढ़ाना हमारे भारतीय दर्शन का निचोड़ है, जो संस्कृत पुस्तकों में भी निहित है, कि हमें समस्त संसार को एक कुटुम्ब मानना चाहिए। यदि हम उक्त दृष्टिकोण का विकास करें तो हम अंगरेजी भाषा के प्रति सहिष्णु हो सकते हैं।”^३

१. रिपोर्ट आब वि यूनीवर्सिटी एज्युकेशन कमेटी, दिल्ली १९५१, संख्या २ भाग २।

२. डेली स्टेट्समैन, नई दिल्ली, ६ अगस्त १९५५।

३. “प्राब्लम आब ए नेशनल आर आफिशियल लैंग्वेज इन इण्डिया” (तमिल कल्चर, अप्रैल, १९५४) से उद्धृत।

इस समस्या को हल करने के लिए एक सुझाव यह भी दिया गया है कि भारत में दो सरकारी भाषाएँ होनी चाहिए। एक उत्तर की संस्कृतमयी भाषा और दूसरी दक्षिण की भाषाओं की प्रतिनिधि एक द्राविड़ भाषा। इस सुझाव पर श्री ए० सेन्थामिलन ने टिप्पणी करते हुए कहा है : “आदर्श हल तो यह होगा कि भारत में बोली जाने वाली समस्त भाषाओं को केन्द्र की सरकारी भाषा मान लिया जाय। हम देख चुके हैं कि कैसे अन्य बहुभाषी राज्यों, जैसे कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, बेलजियम, स्विटजरलैण्ड तथा निकट के श्री लंका और पाकिस्तान ने इस प्रत्यक्ष हल को अपना लिया है। पाकिस्तान ने एक ही भाषा को ‘सरकारी भाषा’ के रूप में थोपना चाहा था, किन्तु यह प्रयोग असफल रहा और जल्दी ही त्याग दिया गया।”

राजभाषा आयोग को दिये गये अपने ज्ञापन में बंग साहित्य परिषद् ने भी विदेशों के उदाहरण देते हुए हिन्दी के भारत की एकमात्र सरकारी भाषा होने का विरोध किया है और उत्तरभारत की संस्कृतमयी भाषाओं के प्रतिनिधित्व के लिये हिन्दी के स्थान पर बंगला का दावा पेश किया है, क्योंकि उनके विचार में हिन्दी अभी एक अप्रौढ़ भाषा है और इसे बोलने वालों की वास्तविक संख्या पाँच करोड़ से भी कम है।^१

यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत की एकता स्वेच्छा से सम्पन्न हो, और यहाँ किसी भी क्षेत्र के लोगों के मन में किसी प्रकार का भय या थोड़ी सी भी दुर्भावना नहीं रहनी चाहिए, तथा शीघ्रातिशीघ्र भारतीय जनता को अंगरेजी भाषा से सब प्रकार की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि एक दक्षिणभारतीय भाषा को दूसरी ‘सरकारी भाषा’ के रूप में ग्रहण करने से हमें अंगरेजी के दासत्व से छुटकारा प्राप्त करने में सहायता मिलती है तो उत्तरीभारत में सभी को इसका स्वागत करना चाहिए। किन्तु दक्षिण भारत में किसी भी द्राविड़ भाषा का प्रमुख स्थान नहीं है, इससे यह सुझाव लाभप्रद नहीं मालूम पड़ता।

द्राविड़ लोगों के भय को निर्मूल करने का और हिन्दी के सरकारी भाषा होने के कारण अहिन्दी क्षेत्रों के विद्यार्थियों की कठिनाइयों को दूर

१. साप्ताहिक विजिल, कलकत्ता, १७ दिसम्बर १९५५।

२. मैसूर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री हनुमन्थैया ने २३ अगस्त, १९५५ के एक प्रेस-सम्मेलन में कहा था : “हिन्दी के समर्थक उसे इस हद तक हम पर लादना चाहते हैं कि देश की एकता संकट में पड़ सकती है।” (स्टेट्समैन, न्यू देहली, अगस्त २४, १९५५)।

करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि समस्त केन्द्रीय परीक्षाओं में जहाँ हिन्दी आवश्यक विषय हो वहाँ किसी अन्य भारतीय भाषा को भी अनिवार्य कर दिया जाय। इस बात के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए कि उत्तरी भारत में वर्तमान दक्षिण भारतीय भाषाओं का ज्ञान बढ़ाया जाय। आजकल उत्तरी-भारत के बहुत से शिक्षित लोग इतना भी नहीं जानते कि वहाँ केवल एक 'मद्रासी भाषा' नहीं चार द्राविड़ भाषाएँ हैं और भारत में द्राविड़ लोगों की जनसंख्या लगभग ३० प्रतिशत है। भारत की एकता को स्थिर रखने और अंगरेजी भाषा की दासता से मुक्ति पाने के उपाय बताते हुए भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने १२ अगस्त, १९५५ को नई दिल्ली में 'हिन्दी प्रदर्शनी' के उद्घाटन के अवसर पर कहा था :

“राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार कुछ कामकाज के ठीक निर्धारित क्षेत्रों तक ही सीमित रहेगा, अन्य भाषाओं का अपने क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्र आधिपत्य रहेगा। जहाँ तक हो सके अपनी मातृभाषा के सीखने के अतिरिक्त दूसरी भाषा के सीखने का बोझ भारत के समस्त जनों पर समान भाव से बाँट देना चाहिए। इसी कारण से मैंने बहुधा इस बात का समर्थन किया है कि जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनका कर्तव्य है कि वे कम-से-कम एक अन्य क्षेत्रीय भाषा सीखें, मेरी दृष्टि से तो और भी अच्छा हो यदि यह एक दक्षिण भारतीय भाषा हो।”^१

आजकल उत्तर में दक्षिण भारतीय भाषाओं की जानकारी प्राप्त करने पर उचित जोर नहीं दिया जा रहा।^२ अंगरेजी से हिन्दी में परिवर्तन से पूर्व ही ऐसा करना होगा, ताकि दक्षिण भारत में इसका विरोध न रहे।

प्रकृति ने भारत को एक-देश का रूप नहीं दिया है। प्राकृतिक भूगोल का यह तथ्य अंगरेजों के आने से पूर्व भारत के राजनीतिक भूगोल से प्रकट हो जाता है। भारत की वर्तमान एकता अंगरेजों द्वारा छोड़ी गई कुछ बहुमूल्य वस्तुओं में से एक है। यह केवल उत्तर से दक्षिण को भाषा और संस्कृति के एकमार्गी गमन से, जो भारतीय इतिहास की विशिष्टता रही है, सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। अब दक्षिण भारतीय भाषाओं को भी उत्तर की तीर्थयात्रा

१. डेली स्टेट्समैन, नई दिल्ली, १३ अगस्त १९५५।

२. मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बन्धित ६५ कालेजों में से ५० कालेज हिन्दी की वैकल्पिक विषय के रूप में शिक्षा दे रहे हैं, किन्तु हिन्दी-क्षेत्र में संभवतः एक भी कालेज ऐसा नहीं है जहाँ किसी दक्षिण भारतीय भाषा के सिखाने का प्रबन्ध हो।

करनी होगी। उत्तर में भारतीय इतिहास और संस्कृति की शिक्षा में दक्षिण-भारतीय इतिहास और संस्कृति को भी उचित स्थान देना होगा। सबसे अधिक यह कि भारत में संचार की सम्पूर्ण व्यवस्था में, जो अंगरेजों द्वारा उत्तर-पश्चिमी सीमांत की रक्षा, और बम्बई तथा कलकत्ता द्वारा सामुद्रिक व्यापार करने की दृष्टि से बनाई गई थी, पूर्णतः परिवर्तन करना होगा जिससे भारत के प्राकृतिक रूप के दुष्प्रभावों का निराकरण हो जाय। ऐसा करने से ही उत्तर और दक्षिण निकटतर आयेंगे और दक्षिण में हिन्दी वास्तव में पहुँच सकेगी।

दक्षिण भारतीयों की मर्जी के विरुद्ध अंगरेजी के स्थान पर हिन्दी को भारतीय संघ की एकमात्र सरकारी भाषा बनाने में जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये, अंगरेजों यह जितनी जल्दी हो सके उतना ही अच्छा है। अपने-अपने क्षेत्रों में हिन्दी तथा अन्य भाषाएँ विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम तुरन्त बनाई जा सकती हैं। इसी प्रकार उत्तरी भारत के विश्वविद्यालयों में दक्षिण भारतीय तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के वैकल्पिक विषयों के रूप में सिखाने का प्रबन्ध किया जा सकता है। दक्षिण का भय दूर करने के लिए सब कुछ करना चाहिए ताकि हिन्दी इस देश की राजभाषा के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक वृद्धि कर सके।

उपर्युक्त समस्या से कहीं अधिक जटिल हिन्दी-क्षेत्र की भाषा सम्बन्धी स्थिति और वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी के सम्बन्ध की समस्याएँ हैं। ग्रामों में प्रजातन्त्री जागरण के अपूर्ण रहने के कारण अन्य क्षेत्रों के समान हिन्दी-क्षेत्र में भी अभी मध्यमवर्ग का प्रभुत्व बना हुआ है। इसलिए यहाँ कृषक-वर्ग और उसकी भाषाएँ अपना स्थान नहीं पा सकीं। हिन्दी-क्षेत्र के मध्यमवर्ग के व्यक्ति का अपनी बोलचाल की भाषा के प्रति विरोध तभी समझा जा सकता है जब एक पंजाबी हिन्दू की अपनी मातृभाषा के प्रति अनिच्छा को दृष्टि में रखा जाय। इस ओर संकेत करते हुए अखिल भारतीय हिन्दू महासभा को कार्यकारिणी समिति तथा उसके केन्द्रीय संसदीय मण्डल के भूतपूर्व सदस्य प्रो० श्रीमप्रकाश कहोल लिखते हैं :

“पंजाबी हिन्दुओं का यह तर्क कि पंजाबी भाषा को छोड़ देने से और हिन्दी को अपनी मातृभाषा मान लेने से वे ‘विशेषाधिकार वर्ग’ के सदस्य हो जायेंगे और उन्हें राज्य की नीकरियाँ मिलने में सुविधा होगी यह स्पष्ट रूप से बताता है कि संघ की भाषा के रूप में हिन्दी के स्थापित हो जाने से हिन्दी बोलने वालों को कुछ सुविधा अवश्य मिली है। अपनी मातृभाषा को राष्ट्रभाषा के लिए छोड़ना कुछ पंजाबियों की ही विशेषता नहीं है, किन्तु थोड़ी-बहुत

अन्य भाषाभाषियों में भी पाई जाती है।”^१

पाकिस्तान में मध्यमवर्ग का पंजाबी मुसलमान उत्तर प्रदेश के आवासी मुसलमान से घृणा करता है, किन्तु उसकी भाषा उर्दू को अपना रहा है, क्योंकि उससे वह पाकिस्तान के अन्य लोगों पर प्रभुत्व का एक साधन प्राप्त करता है। हिन्दी-क्षेत्र के मध्यमवर्ग का हिन्दी-प्रेम भी इसी कारण से है। वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के प्रति उसकी उपेक्षा का कारण यह है कि यदि ये भाषाएँ और उनको बोलने वाली जनता जाग जाए तो वह स्वतन्त्रता के सम्पूर्ण लाभों से जन-साधारण को वंचित न रख सकेगा जैसा कि आज कर रहा है।

हिन्दी-क्षेत्र के लिए एक ‘राष्ट्रीय राज्य’ और ‘राष्ट्रीय भाषा’ के कुछ मार्क्सवादी समर्थक भी यह मानते हैं कि प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ होनी चाहिए। यह तब और भी आवश्यक हो जायगा जब संविधान में निर्देशित यह सिद्धान्त लागू हो जाय कि प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क, और सबके लिए अनिवार्य हो। फिलहाल विभिन्न प्रादेशिक भाषा-क्षेत्रों के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ की मातृभाषा को प्राथमिक या माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय, और उच्च माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों को प्रादेशिक भाषा या हिन्दी लेने का विकल्प हो। हिन्दी क्षेत्र भर में विश्व-विद्यालय की शिक्षा अंगरेजी में नहीं हिन्दी में होनी चाहिए। हिन्दी-क्षेत्र की सरकारों को प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति के लिए पृथक विभाग खोलने चाहिए, जैसे पंजाब सरकार ने पंजाबी विभाग खोला है। प्रादेशिक भाषाओं का वर्तमान साहित्य, जो पांडुलिपियों में पड़ा है, प्रकाशित किया जाना चाहिए। इन भाषाओं की सहस्रों कृतियाँ अप्रकाशित पड़ी हैं। मिश्रबन्धु विनोद में इनकी संख्या ३७६७ दी गई है। ग्रियर्सन ने अपने ‘माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर’ के अनुच्छेद में ऐसी कृतियों की संख्या कई सहस्र गिनाई है। बहुत सी उनकी दृष्टि में न भी आई होंगी। पिछले पचास वर्षों में भी बहुत सी नई रचनाएँ हुई होंगी। इन साहित्यिक कृतियों को आगामी पीढ़ियों के लिए खो देना अपनी संस्कृति के प्रति घोर अपराध होगा। इसी प्रकार हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषाएँ वैकल्पिक भाषायें होनी चाहिए और उच्चतम स्तर तक उनकी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। मैथिली-भाषा के एक इतिहास में लिखा है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में मैथिली भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध है। कोई कारण नहीं कि हिन्दी क्षेत्र के समस्त विश्वविद्यालयों में, यदि अधिक अच्छी नहीं तो वैसी ही सुविधाएँ प्रादेशिक भाषाओं की शिक्षा के लिए क्यों न दी जायं।

१. ओ० पी० कहोल : हिन्दूज एण्ड दि पंजाबी स्टेट—अम्बाला १९५५।

प्रादेशिक भाषाओं का प्रश्न इसलिए उठाया गया है कि यदि ये भाषाएँ यों ही पिछड़ी रहेंगी तो आधुनिक हिन्दी का कोई भी भविष्य नहीं हो सकता। साहित्यिक भाषाओं के रूप में जब ये भाषाएँ पूरे तौर से फल-फूल उठेंगी तभी हिन्दी को जीते-जागते मुहावरों और हर प्रकार से और हर प्रयोजन के लिए बोलचाल के शब्दों का अक्षय भण्डार प्राप्त होगा। फैनल की हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी का जो विवरण १८७० में प्रकाशित हुआ था उसमें लिखा था : “भाषा का धन आम बोलचाल की भाषा में ही वर्तमान हो सकता है। यह कितनी समृद्ध और व्यञ्जक हो सकती है इसे वे ही अच्छी तरह से जानते हैं जो एशिया के कल्पनाशील और भावुक लोगों की प्रतिदिन बोली जाने वाली भाषा के रंग-बिरंगे रूपों से परिचित हैं। हमारे शब्दकोषों में इनके जीते-जागते उद्गारों का नितान्त अभाव है।”

आज उर्दू शैरो-शायरी के सामने खड़ी-बोली-हिन्दी की कविता हेच मानी जाती है, किन्तु उर्दू से भी कहीं अधिक निखार भ्रजभाषा आदि में हैं, वह उर्दू के लेखकों ने स्वयं स्वीकार किया है। उर्दू के एक महान् लेखक मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ‘उर्दू’ और ‘भाषा’ की अभिव्यजन शक्ति की तुलना करते हुए ‘आबे-हयात’ में लिखते हैं : “फारसी और उर्दू की इन्शा-परदाजी (लेखन-कला) में जो दुशवारी है और हिन्दी की इन्शा में जो आसानी है, इसमें एक बारीक नुकना गौर के लायक है। वह यह है कि भाषा जबान जिस शै का बयान करती है उसकी कैफियत हमें इन खदो-खाल से समझाती है जो खास इसी शै के देखने, सुनने, सूँघने, चखने या छूने से हालिल होती है। इस बयान में अगरचे मुबालगा (अत्युक्ति) के जोर या जोशो-खरोश की घूमघाम नहीं होती मगर सुनने वाले को जो असल शै देखने से मजा आता वह सुनने से आ जाता है।”

प्रादेशिक भाषाओं के समृद्धिशाली शब्दभण्डार का विवेचन करते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं : “उनके शब्दभण्डार में से अनन्त रत्न हिन्दी भाषा के कोष को धनी बना सकते हैं। अनेक अद्भुत प्रत्यय और धातुएँ प्रत्येक बोली में हैं। हर एक बोली का अपना-अपना धातुपाठ है। उसका संग्रह और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन होना आवश्यक है। प्राचीन कुरु जनपद के अन्तर्गत मेरठ के आसपास बोली जाने वाली भाषा में डेढ़ सहस्र ऐसी धातुएँ हैं। उनमें कितनी ही ऐसी हैं जो फिर हिन्दी भाषा के लिए उपयोगी हो सकती हैं। बहुत सी धातुओं का सम्बन्ध प्राकृत और अपभ्रंश की

धातुओं से पाया जायगा । बहुत सी धातुएँ ऐसी हैं जो जनपद विशेषों में ही सुरक्षित रह गई हैं ।”

मौलवी जफरुल रहमान देहलवी द्वारा संपादित विभिन्न ‘प्रोफेशनल टर्मस’ (व्यावसायिक पदों) की शब्दावलियों में, जिसके आठ भाग अंजुमने तरक्की उर्दू-देहली ने भारत के विभाजन से पूर्व प्रकाशित किए थे, खड़ी बोली क्षेत्र के लगभग २५००० बोलचाल के शब्द हैं । किन्तु इनमें से अधिकांश को हिन्दी और उर्दू के कोषों में कोई स्थान नहीं मिला है । जैसा ऊपर कहा गया है हिन्दी के बोलचाल के आधार को समृद्ध बनाना तथा उसके कृत्रिम तत्त्वों को दूर करना उतना कठिन नहीं है जितना समझा जाता है । बहुत से धातुरूप, जिनके लिए हिन्दी-लेखक संस्कृत की शरण लेते हैं तद्भव रूपों में खड़ी बोली और अन्य प्रादेशिक भाषाओं में, अपने समृद्धिशाली और सुन्दरतम अर्थों में, जो उन्हें विगत दो या तीन सहस्राब्दियों में मिले हैं, उपलब्ध हैं । ये धातुएँ, अपनी सतत परिवर्तनशील परिस्थितियों में नवीन जीवन-रस ग्रहण करती हुई निरन्तर नवीन कौपलों और शाखाओं की सृष्टि करती रही हैं । इस प्रकार बोलचाल की भाषाओं ने एक ही धातु से बहुत बड़ी संख्या में शब्द प्राप्त किए हैं, तथा प्रायः बड़ी संख्या में उनके गौण अर्थों का भी विकास किया है, जिससे प्रत्येक साधारण विचार के विशिष्ट पहलू में आंशिक परिवर्तन तक के लिए विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, प्रत्येक शब्द का अपना-अपना सारगर्भित अर्थ और उचित स्थान है जहाँ कोई दूसरा शब्द ठीक नहीं बैठ सकता ।

ये प्रादेशिक भाषाएँ वैज्ञानिक शब्दावली के लिए भी समान रूप से हिन्दी को लाभदायक हो सकती हैं । पिचहत्तर वर्ष पूर्व फेलन ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा था : “जनता की यह भाषा समस्त साहित्यिक और वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए पर्याप्त मात्रा में निश्चित, प्रचुर और व्यजक है, तथा ज्ञान के व्यापक, प्रभावी और तीव्र प्रसारण के लिए तथा जनता के नैतिक और सामाजिक उत्थान के लिए सर्वोत्तम माध्यम है ।”^१ बहुधा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि हिन्दी को संस्कृतमय बना देने से वह भारत की अन्य भाषाओं के निकट आ जायेगी, क्योंकि उन सबका यही एकमात्र आधार है, किन्तु यह अत्यन्त भ्रामक है । मद्रास की दक्षिणभारत हिन्दी प्रचार सभा को संस्कृतमयी हिन्दी के स्थान पर सरल हिन्दी या हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि दक्षिण भारतीय विद्यार्थियों ने उस भाषा को सीखने के लिए आग्रह किया जिसमें वे अपने देशवासियों से बातचीत कर सकें ।

१. दे० फेलन रचित, “न्यू हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी” की भूमिका ।

हिन्दी को एक जीवित भाषा की प्राणदायिनी शक्ति जिन साधनों से दी जा सकती है वे ये हैं—

प्रथम, बोलचाल में न आने वाले समस्त तत्सम शब्दों का हिन्दी से बहिष्कार और उन तद्भव शब्दों के असीम भण्डार से उसे समृद्ध बनाना जो खड़ी बोली क्षेत्र में आज भी सुरक्षित हैं। खड़ी बोली के क्षेत्र में स्त्री-पुरुषों की जबान पर बसने वाली सारगर्भित और स्वच्छ बोलचाल की भाषा ग्रहण कर और इस जीवित भाषा के नित्य वर्धमान और अक्षय मुहावरों से अपना पोषण कर हिन्दी पुनः स्वाभाविक और सरल हो सकती है। हिन्दी में कृत्रिमता तद्भव से तत्सम में परिवर्तन के कारण आई है और जब तक इसके विपरीत प्रवृत्ति नहीं अपनाई जायगी तब तक हिन्दी आम बोलचाल की भाषा के निकट नहीं आ सकेगी।

दूसरे, प्रादेशिक भाषाओं की पवित्र सरस्वती-सरिताओं को, जो इस समय हिन्दी से अलक्षित प्रवाहित हो रही हैं, हिन्दी से संगम कर उनके मीठे एवं पावन जल से हिन्दी में ताजगी, विस्तार और समृद्धि लानी चाहिए। इसी प्रकार धीरे-धीरे प्रादेशिक भाषाओं को हिन्दी में विलीन करने से ही एक या दो शताब्दियों, या सम्भवतः थोड़े अधिक काल में, समस्त हिन्दी-क्षेत्र के लिए एक आम बोलचाल की भाषा का विकास हो सकता है।

हम अपने कर्तव्य का पालन करें या न करें हिन्दी-क्षेत्र के निवासियों के समान ही हिन्दी भाषा का भविष्य भी महान् और उज्ज्वल है। यहाँ की जनता ने संसार की महान्तम संस्कृति की रचना की है और जब वह अपनी किसमत को अपने हाथों में ले लेगी तो वह पहले से कहीं अधिक उत्तमतर और उज्ज्वलतर सभ्यता का निर्माण करने की इच्छा और शक्ति प्रकट करेगी। जब राष्ट्र एक नवीन जीवन प्रारम्भ करते हैं, जैसा भारत निश्चित रूप में अब करेगा, तब उनकी मनीषा और चिन्तन में अभूतपूर्व उत्तेजना आ जाती है। तब नवीन विचारों का स्फुरण भी क्षिप्र हो जाता है, और वे नवीन सृजनात्मकता और चेतनत्व प्राप्त कर लेते हैं। भाषाएँ भी तभी विशिष्ट तीव्रता के साथ पनपने लगती हैं और शताब्दियों की पुरानी परतें उतार फेंकती हैं। ऐसे संक्रांतिकालीन अवसरों पर जनता असंख्य प्रतिभावान् व्यक्तियों को जन्म देती है जो अपने सन्निकट अक्षय शब्द-भण्डार के सहारे नवोदित विचारों की शक्ति तथा जीवित भाषा के प्रखर सामर्थ्य के जोहर दिखाते हैं। एक दिन हिन्दी भी इसी प्रकार जनता की भाषा हो जायगी और उसकी महत्ता और क्षमता को ग्रहण कर लेगी। हम में से जिनका हिन्दी भाषा के प्रति स्नेह है, उन्हें ऐसी घड़ी निकट लाने की सतत चेष्टा करनी चाहिए।

अध्याय १२

लिपि का प्रश्न

देवनागरी लिपि संविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) द्वारा भारत की सरकारी लिपि निर्धारित की जा चुकी है, तिस पर भी उस के गुणों और अवगुणों की चर्चा में तीव्रता अभी तक कम नहीं हुई है। रोमन लिपि और देवनागरी लिपि के वादविवाद^१ में तेलुगू लिपि^२ भी अब आ गई है जिसका यह कहकर

१. सु० कु० चटर्जी : “लिपि के बारे में हमारी सरकार ने घोषित कर दिया है कि भारतीय लिपि—देवनागरी—हिन्दी के लिए उचित है और यही सरकारी लिपि रहेगी। रोमन लिपि को कोई सरकारी समर्थन भी नहीं दिया गया है। फिर भी एक शक्तिशाली वर्ग ऐसा है, विशेषकर बंगाल में, जो समस्त भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि चाहता है। यद्यपि वह आजकल सक्रिय नहीं है किन्तु इसमें कई सुविधायत वैज्ञानिक तथा विद्वान हैं। मैं स्वयं रोमन लिपि समिति से उसके सभापति की हैसियत से सम्बन्धित हूँ” — (दि इण्डोएशियन कल्चर—भाग ४ नं० २, अक्टूबर १९५५)
२. प्रबुद्धनाथ चटर्जी : “किन्तु देवनागरी के लिए कौनसी पवित्रता है? देवनागरी के अधिकांश अक्षरों के कोणीय रूप होते हैं जिससे वे शीघ्र नहीं लिखे जा सकते। अक्षरों के रूप सरल न होकर बेढंगे होते हैं। रोमन और तेलुगू की अपेक्षा देवनागरी लिखने में थकावट जल्दी आ जाती है। यदि अपने आकार में तथा संयुक्ताक्षरों की प्रणाली में तेलुगू लिपि थोड़ा और सरल कर दी जाय तथा उसके ऊपर और नीचे की अलंकृत रेखाएँ हटा दी जायं तब वह यांत्रिक विधियों के लिए निकटतः रोमन लिपि के समान ही उपयोगी हो जायगी। तेलुगू लिपि को भारत की सामान्य लिपि के रूप में ग्रहण करने के लिए एक और विचार यह भी है कि वह संभवतः देश के उत्तरी और दक्षिणी भागों में एकता को प्रोत्साहन देगी”। (नेशनल स्क्रिप्ट एण्ड न्यूमरलस्—कलकत्ता रिव्यू, दिसम्बर १९५४)।

समर्थन किया जा रहा है कि वह ही एक ऐसी भारतीय लिपि है जो रोमन लिपि के समान छपाई इत्यादि के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

भाषा से अलग करके लिपि के प्रश्न पर विचार करना भूल होगी। भाषा की प्रकृति और आत्मा का परिवर्तन किये बिना पुरानी लिपि हटाकर नई लिपि अपनाई नहीं जा सकती। बहुधा तुर्की के कमालपाशा का उदाहरण दिया जाता है, जिन्होंने अरबी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को अपनाया था। इस तथ्य के अतिरिक्त कि अरबी लिपि वास्तव में तुर्की की अपनी न थी, इस बात को भी भुलाना चाहिए कि तुर्की को अतीत से एक हृदयक सम्बन्ध-विच्छेद करना अभिप्रेत था और अरबी लिपि से रोमन में परिवर्तन उसी का प्रतीक और साधन था। भारत में कोई भी अतीत से विच्छेद नहीं चाहता। अपनी संस्कृति की अनुपम परम्परा का हमें अभिमान है और हम उसे सुदृढ़ रखना चाहते हैं तथा उसके सर्वोच्च तत्त्वों को समृद्ध बनाने और उनका विकास करने के लिए उत्सुक हैं।

इसके अतिरिक्त जैसी उत्तरी भारत के लोगों की आज स्थिति है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि सरकारी तौर पर लिपि के परिवर्तन का उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। सरकारी स्तर पर चाहे जो भी लिपि हो वे देवनागरी से चिपटे रहेंगे, जैसा कि उन्होंने गत शताब्दियों में किया है। सामाजिक स्थितियों को बिलकुल परिवर्तित किये बिना और हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं की ग्रामप्रधानता के रहते हुए लिपि में परिवर्तन करना वर्तमान समस्याओं को और जटिल ही नहीं कर देगा वरन् अनेक नवीन समस्याएँ को भी उपस्थित कर देगा। जब तक औद्योगीकरण के बाद भारत की आधी से अधिक जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों को छोड़कर नगरों में रहने नहीं लग जायगी तब तक सरकारी लिपि में परिवर्तन का प्रभाव साधारण जनता पर अधिक नहीं हो सकता। मैथिली भाषा की कैथी लिपि कभी भी सासन द्वारा स्वीकृत नहीं की गई और पंजाबी भाषा की गुरुमुखी लिपि ने अभी हाल ही में सरकारी मान्यता प्राप्त की है, किन्तु इन तमाम शताब्दियों में सरकारी लिपि में परिवर्तनों से अप्रभावित ये लोग अपनी लिपि का ही प्रयोग करते रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि रोमन लिपि सरल है और भारत की समस्त वर्णमालाओं से वह अधिक उपयोगी है। रोमन लिपि के २६ वर्ण मुद्रण, शिक्षण इत्यादि के लिए अधिक सुविधाजनक हैं। रोमन लिपि की तुलना में देवनागरी तथा अन्य भारतीय लिपियों में छपाई अधिक कष्टदायक है। वर्णों के बाहुल्य और संयोजन की प्रणाली ने भारतीय लिपियों का सीखना कठिन

बना दिया है। किन्तु क्या ये लिपियाँ सरल नहीं की जा सकती? क्या संयुक्ताक्षर और शब्दों के ऊपर-नीचे मात्राओं के प्रयोग समाप्त नहीं किए जा सकते? रोमन लिपि के पाँच स्वरों के स्थान पर देवनागरी के १० स्वरों को रखते हुए भी क्या इस की वर्णमाला संक्षिप्त करके ३० अक्षरों की नहीं बनाई जा सकती?

देवनागरी के विरुद्ध और रोमन लिपि के पक्ष में जो युक्तियाँ दी जाती हैं उनकी सविस्तर परीक्षा यहाँ आवश्यक नहीं जान पड़ती। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी दोनों लिपियों पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं: “परन्तु देवनागरी के पक्ष में और रोमन के विरोध में इतना सब कुछ होते हुए भी मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका हूँ कि आवश्यकतानुसार परिवर्तित तथा अनुक्रम से बदली हुई रोमन लिपि ही हिन्दुस्तानी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिए उपयुक्त हो सकती है। देवनागरी लिपि अपने वर्णों की अपेक्षाकृत जटिलता, संयुक्ताक्षरों के उपयोग तथा लिखने के लिए एक ध्वनिनिष्ठ न होकर एकाधिक ध्वनिमय पद्धति के कारण पीछे रह जाती है। आधुनिक देवनागरी लिपि में छपाई के लिए लगभग ४०० से अधिक विशेष प्रकार के टाइपों की आवश्यकता पड़ती है। इस भारतीय रोमन के व्यवहार से वह संख्या घटकर केवल ५० के लगभग रह जायगी।”^१

श्री मदनगोपाल देवनागरी के विरुद्ध तर्क देते हुए कहते हैं: “देवनागरी ७५ प्रतिशत अधिक स्थान लेती है। वह लिखने के लिए ५० प्रतिशत अधिक समय लेती है। हमारी सरकार का वेतन खर्च ५० प्रतिशत और लेखन-सामग्री का खर्च ७५ प्रतिशत अधिक हो जायगा। पुस्तकों के मूल्य ७५ प्रतिशत अधिक बढ़ जायेंगे। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि समस्त शिक्षा और संस्कृति अधिक महँगी हो जायगी। हिन्दी पर अन्तिम अध्याय लिखते समय मुझे ऐसा लगा कि देवनागरी लिखने में केवल अधिक समय और स्थान ही नहीं लेती उसे पढ़ने में भी अधिक समय लगता है। यदि संयोगवश मेरा अन्तिम अनुमान ठीक हो तो यह विषय अत्यधिक गंभीर हो जाता है। इससे केवल धन-हानि ही नहीं समय की हानि और परिणामतः संस्कृति की हानि भी होगी।”^२

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सरलीकरण से देवनागरी लिपि के उपयुक्त दुर्गुण दूर या कम किए जा सकते हैं? रोमन लिपि अपनाने से हिन्दी

१. सु० कु० चटर्जी : इण्डो-आर्यन् एण्ड हिन्दी।

२. मदनगोपाल : विस हिन्दी एण्ड देवनागरी—मेट्रोपोलिटन बुक कं०, बरिया-गंज, देहली।

लिखने के ढंग में परिवर्तन करने पड़ेंगे, क्या आवश्यकता पड़ने पर ऐसा देवनागरी में नहीं किया जा सकता, ताकि इसे सरल बनाया जा सके ?

प्रथम, रोमन लिपि को ग्रहण करने से व्यंजनों के संयुक्तीकरण का पूर्णतः बहिष्कार करना होगा। ये संयुक्ताक्षर आवश्यकता पड़ने पर देवनागरी से भी हटाये जा सकते हैं और छपाई की परेशानी से बचा जा सकता है।

द्वितीय, रोमन लिपि अपनाने पर ऊपर-नीचे, दायें बायें लगाई जाने वाली मात्राओं को हटाना होगा और उनके स्थान पर स्वर वर्णों का प्रयोग करना होगा। आवश्यकता पड़ने पर यह देवनागरी की छपाई में भी किया जा सकता है; इससे रोमन की समस्त सुविधाएँ देवनागरी में लाई जा सकती हैं।

तृतीय, रोमन लिपि में ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, ङ, थ, द, फ, भ और श के लिए अक्षर नहीं हैं। उसमें इन अक्षरों के लिए नवीन रूप स्थिर करने होंगे और अल्पप्राण अक्षरों में h लगाकर महाप्राण अक्षर बनाने होंगे। देवनागरी लिपि में भी इस प्रकार 'ह' लगाकर महाप्राण अक्षर बनाये जा सकते हैं। महाप्राण ध्वनि वाले विशेष अक्षरों को दूर कर देवनागरी वर्ण-माला से १२ अक्षर कम किये जा सकते हैं। इसी प्रकार देवनागरी में एक 'न' रखकर (आवश्यकतानुसार अनुनासिक 'न' के लिए बिन्दु रखा जा सकता है) रोमन लिपि की तरह अन्य तीन अक्षर दूर किए जा सकते हैं। इससे देवनागरी में व्यंजनों की संख्या कम होकर १८ रह जायगी, जो १० स्वरों के साथ, रोमन लिपि के २६ अक्षरों के स्थान पर, २८ अक्षरों का योग रखेगी। रोमन में केवल ५ स्वर ह और भारतीय विशिष्ट व्यंजनों के लिए कोई भी अक्षर नहीं है। इस रूपान्तर से देवनागरी को छपाई इत्यादि की वे समस्त सुविधाएँ मिल जायेंगी जो इस समय रोमन लिपि में हैं।

यह आवश्यक नहीं कि मुद्रण के सब सुधारों का उपयोग लिखने में भी किया जाय। लेखन में मात्राओं का व्यवहार अत्यन्त सुविधाजनक है पर मुद्रण में उसे हटाया जा सकता है। उपर्युक्त सुझाव देवनागरी लिपि को रोमन में बदल देने के प्रस्ताव से हमारे सामने आते हैं। विषय का ठीक प्रकार से अध्ययन करने पर सुधार की बहुत-सी संभावनाएँ स्पष्ट हो जायेंगी और संसार की सर्वोच्च लिपियों की भाँति देवनागरी भी पूरी तरह से उपयुक्त और योग्य बनाई जा सकेगी। इसके लिए एक ऐसी "अनुसंधान समिति" की स्थापना की आवश्यकता होगी, जैसी कि चीन के जन-गणराज्य ने चीनी राष्ट्रीय^१

१. दे० : दि प्राब्लम आव रिफॉर्मिंग दि चाइनीज़ रिटिन सैंग्वेज—पीपुल्स चाइना, पेंकिंग, नं० १०, १६५४।

लिपि में सुधार करने के लिए स्थापित की है।

भारत के दीर्घकालीन इतिहास में देवनागरी ही सब कालों में उसकी एकमात्र लिपि नहीं रही और न हमारे प्राचीन देश का समस्त साहित्य उसमें सुरक्षित रहा है। बौद्धों के 'ललित विस्तार' में ६४ लिपियों का उल्लेख है जो महात्मा बुद्ध को सिखाई गई थीं और इनमें देवनागरी या उससे पहले की ब्राह्मी लिपि का उल्लेख नहीं है। जायसी ने 'पदमावत' फारसी लिपि में लिखी थी। और भी बहुत सी प्राचीन हिन्दी कृतियाँ देवनागरी में नहीं लिखी गईं। पंजाब सरकार के पटियाला संग्रहालय में ब्रजभाषा आदि की सैकड़ों कृतियाँ गुरुमुखी लिपि में हैं। किन्तु यह बात निर्विवाद है कि इस समय देवनागरी लिपि उत्तरभारत के लोगों की सांस्कृतिक समृद्धि का इतना आवश्यक अंग बन चुकी है कि एक के बिना दूसरे का विचार नहीं किया जा सकता। यदि रोमन या अन्य किसी लिपि के पक्ष में सरकार निश्चय कर ले तो भी उनके देवनागरी को छोड़ देने की कोई संभावना नहीं है। इस कठिन तथ्य को स्वीकार कर लेने पर देवनागरी लिपि का सुधार करने और उसको उन्नत करने की आवश्यकता तीव्र रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है।

अनुक्रमणिका

अंग्रेजी भाषा १२२-१२५	काव्य का उद्गम ३१-३२
अनार्य जातियों ४६	कोल भाषाएँ १६-१७
अपभ्रंश १३, ४४, ५७, ५८, ६१, ७६, ८६	कृष्ण, भगवान् श्री ४६, ६७, ६८, १०८
अमीर खुसरो ७३, ११६	कृष्णभक्ति ६७, ८६, १०८
अरब ४१, १०२	कृषि, भारत में ४६, ५३-५४, ७३, ७५-७६, ८६, ८२, १०८
अरबी भाषा १११, १२६	खड़ी बोली दे० हिन्दी
अर्धमागधी ४१, ४८, ५०, ६६	गण-गोत्र, वैदिक ३०-३१, ३५, ४२
अलबेरूनी ७२, ७३, १०२, १०३	ग्रामीण पद्धति ४५, ५५
अवध ६७-६८	ग्रियर्सन ११, ५८, ६०, ६३, १३७, १५६
अवधी १२, ८६, ८७, ८८, ८९, १००, १०५, १०६, १०८, १३५, १३८, १४६	ग्रीक १४, १५, २६, ६४
अशोक ४३, ४७-५०, ५४	गीता ४१, ४५
अहिन्दू धर्म, मध्यकालीन भारत में ६६, ६६, ७०, ७२, ८३, ८४, १०३	गुर्जर प्रतिहार ५६, ७५, ६७
आजीविक ४७, ६६	गोरखनाथ ७०, ७२
आमीर ५६, ६१	गुप्त काल ५२, ५४
आयरिश भाषा १२४, १४५-४६	चरक ३४
आर्य शब्द का अर्थ २१	चरण ३४, ३७
आर्यवर्त १४६-५०	चारण ४७, ७७-७८
इ-तिहास, चीनी यात्री ३८	चीन ७४-७५, १२६, १३१
इस्लाम ६३, ६४, १०३, १०६	चीनी भाषा १२६-१३२
ईरान १४, १५, १६, ६४, १११	चौमूह स्वयम्भू ६०
उत्तर प्रदेश ६७-१००, ११०	छन्दस् २६-३०, ३६, ४६
उपनिषद् ३७, ४८	जनपद आन्दोलन ११, ६८
उर्दू १०६, १११-११५	जर्मन भाषा ७८, ८४
और मुसलमान १११-११३, ११६	जायसी ६६, १०६, १६७
ऋग्वेद २८, ३१-३४	जैन धर्म ४७, ४८, ५६, ६१, ६६, ७०
कबीर ६२, ६६, ८१, ८३, ८४	डिंगल ७७-८०
कालिदास १२, ८८	तमिल भाषा २२, १०६ १५४-१५५
	तान्त्रिक ७०

तुलसीदास ६७, ८५, ८६, ८२, ८७, ८६,
१००-१०६, १०८

दांते इटली के कवि २६

दास प्रथा ४५-४६, ५४, ६५, ७३

दिल्ली ७३, ६५, ६६, १०६, ११०, ११३,
११५, ११६-११७

द्राविड़ १६, १७, २२, ३६

धर्म २३, ४६, ६६, ८२, ८४, १०७, १०८

नगर, भारत में ७२-७३, ८४ १०२, ११०,

नाथ पन्थ ६६, ७१, ८३, ८४

नानक गुरु ७३, ८०, ८१

नास्तिक मत ६६, ७०

निरुक्त २८, २६

निर्माण भक्ति ६६, ७१, ७२, ७६, ८२-८४,
१००, १०३, १०४, १०८, १०६

पंजाब १५, ४२, ५३, ६०, ११०, १११

पंजाबी १३७, १३८, १४४-१४६

परिवहन के साधन ७६

पालि ४६-५१, ५८, ६७

शब्द का उद्गम ४६

पाणिनि १२, २६, २८, २९, ३५-३८, ७२,
८८, ११०

प्राकृत १३, ३६, ४०, ४३-४४

आदि २६, ३८, ४५-५१

मध्य ५१-५७

निया ४३

संस्कृत नाटकों में ५६

प्राकृत पैगलम् ६०

प्रादेशिक भाषाएँ ६, १०, १२, ८६, १०६,
१३४-१५२, १५८-१६२

फ्रेंच भाषा १२७-१२८, १४०

बंगाल ७५, ८४, १०६

बाइबिल १६, ३१, १०४, १२०

बिहार ४६, १०६, १३७, १३८

बुन्देलखण्ड ८६, ८८, १००, १३५, १३६
१४१, १४७

बुद्ध ४६, ५०-५१

ब्रजभाषा १३, ८६, ६५, ६७, १०६, १०८,
११७, १३८

ब्रिटिश शासनकाल ६, १०, १०५, १४५

ब्राहुई भाषा १६, १३५

ब्राह्मण वर्ण ६४, ७५, १०१, १०३, १०६,
१३१

ब्राह्मण ग्रन्थ ३६-३७, ३६

बोगोज कथोई १५, १८

बौद्ध-धर्म ४३, ४७, ६६, ७०-७१ ७५, ६७

भक्ति काव्य ६३, ७६, ८०

भागवत ६७

भारोपीय १४, १५, १६, २१

भाषा का विकास २६-२७, ६१, ६२, ८६,
६४-६५, १०८, ११५, १३४, १५१

प्राचीन भारत में ५२-५३

भाषा विज्ञान २३, २४, १३२-३३

भोजपुरी ८६, १३५-१३६, १४६

महाभारत १२, ३४, ३८, ३६, ४७, ४८,
५६, ६७, १३६, १४०, १४२,

१४४-४५

युद्ध ३६, ४५

महाराष्ट्री प्राकृत ५६-५७

मागधी १४६, १४७

प्राचीन ४४, ४८, १३८

माक्स, कार्ल ४५, ६८

मित्तन्नी पुरालेख १५

मिलिन्दपण्ह ४६

मैथिली १३५, १४६, १५६

मुगल काल ७६, ८६-८७, ८३, ११२, ११४

मुसलमान ६४, ७१-७२, ७५, ८६, ८६,
६७, १०२, १०३, १०६, ११६

मैक्समुलर २१, २६

मोक्ष सिद्धान्त ६५

मोहेन्-जो-दड़ो १५-१६, १७

मौर्य साम्राज्य ५३, ७२, ६७

यास्क २६, २८, २६

पिंडिडश भाषा ११२, १२८

१७० हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास

यूरोप १४, ५५, ६१, ६८, ७३-७४, ८६,
९०, ९२, ९३, ९४, १०७

योग ७०-७१, ८३

राजपूत ५६, ७७, १०२

राजस्थान ५६, १०२

राजस्थानी ६०, ८६, १३८, १४६

रामचरित मानस ६२, ६७, १००-१०१,
१०६, १०८

रामानुजम ६७

रामायण २८, ३४, ३८, ४७, ६७, १०४

राष्ट्रीयता, भारत में १४८-५१

रासो ७६, ७८-७९

रीतिकाल ८६, १०६

रूसी भाषा ६५, १२६-१२७

लेटिन १४, २५-२६, २६, ६३

लोहा भारत में, ३६, ४६

वर्ग-समाज ३२

वर्ग संघर्ष ४५, ६४, ६६, ६८, ७५, १०३

वर्ण-व्यवस्था ५४, ६४-६५, ८०, ८२, १०१,
१०३-१०४, १०८

वणिज्य-व्यापार ७५-७६, ८०, ८६-८७, ८९,
१०१, १४४

वाममार्गी ७०

विज्ञान भारत में, ७३-७४

विष्णु, भगवान् के अवतार ६८

वीरगाथा काल ७७

वेल्श भाषा १२२-१२३

वैश्य वर्ण, ४५, ५६, ७५, १०३

ब्राह्म ३४-३५, ४६, ४८

शंकराचार्य ६७

शाक्य ५१, ५३, ७०

मौरसेनी प्राकृत ५५-५६

अपभ्रंश २६, ६०, ६३

षडरात्र क्रतु ३५

संस्कृत १३, १४, १५, २१-४२, ४८, ५५,
५८, ६२

और ग्रीक ३०

और लैटिन २५

वैदिक १४, २२, २८, ३६, ४२

शब्द का उद्गम २६

में पर्यायवाची ४०

संस्कृतेतर आर्य भाषाएँ १६-२०

संज्ञिता ३६

सगुण भक्ति ८४

सांख्य

सामन्त काल, भारतीय ५३-५५, ६५, ७२-७५,
७६-८०, ८४, १०८

यूरोप में ५४-५५, ७४

सिन्धु-वादी की सम्भ्यता २२

सिख ८१, ११५

सिद्ध ६६, ७७, ८४, ८

मृत ३४, ३८, ४७

मूरदास ६७, ८४, ९७, १०६

स्थापत्य कला ७३

स्पेनिश भाषा १२७

स्लाव १५, १२६

ढडङ्गा ३६

हिती पुरालेख १५

हिन्दी, खड़ी बोली ६, ४२, ६०, ६५, १०७,
१०८, १२१, १३७, १३८

आदिकालीन ६३-६४, ७७-८५

मध्यकालीन ८६, १०५

आधुनिक ७६, ७७, १०७-१२१

हिन्दू धर्म ६५, ६६-६८, ७१

दर्शन ६६

दूण ५६, ७२

हान सांग ५५, ७२, १२६

